स्वतंत्रता की रजतजयंती पर।
सन्मार्ग प्रकाशन की भेंट।

कांटों और फूलों के देवता
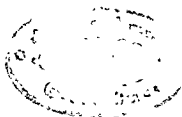
श्री व्यथित हृदय

प्रकाशक : सनमार्ग प्रकाशन
१६, यू० बी० बैंग्लो रोड, दिल्ली-७

संस्करण : १९७२

मूल्य : आठ रुपए

मुद्रक : इण्डिया प्रिंटर्ज़, दिल्ली-६

स्वतन्त्रता की
रजत जयंती पर
भारतीय किशोरों
को
हमारी भेंट

दो शब्द

तुमने स्वर्ग के देवताओं के बारे में बहुत कुछ सुना होगा। तुम्हें यह जानना चाहिए कि वे भी देवताओं के समान ही पूज्य हैं, जिन्होने देश की स्वतन्त्रता के लिए बड़े-बड़े कष्ट झेले हैं। ऐसे अनेक भारत-माँ के लाल हैं, हम यहाँ उन सभी सपूतों को याद में अपना मस्तक झुका रहे हैं, पर इस पुस्तक में हमने उन्हीं की जीवन-गाथाएँ अंकित की हैं, जो स्वतन्त्रता के पश्चात् प्रशासक के रूप में देश के गौरव-केतु को हाथ में लेकर आगे बढ़े है। हमारा तात्पर्य है प्रधान मन्त्री और राष्ट्रपति से। स्वतन्त्र भारत के अब तक के प्रधान मन्त्रियों और राष्ट्रपतियों को एक-स्थान में देखकर तुम्हें प्रेरणा मिलेगी। तुम्हारी प्रेरणा के लिए ही हम इसे तुम्हारे सामने रख रहे है।

विनोद

विषय-सूची

बापू की याद में

पन्द्रह अगस्त ! बड़ा पवित्र है पन्द्रह अगस्त का दिन ! यही वह दिन है, जब भारत की दासता की वेड़ियाँ टूटी थीं, जब भारत पूर्ण स्वतंत्र हुआ था। १९४७ ई० का पन्द्रह अगस्त का दिन ! आकाश में बादल छाये थे। सारा भारत प्रसन्नता से हंस रहा था, रंग-बिरंगी पोशाकों में सजकर नाच रहा था। चारों ओर खुशी के गीत, आनन्द के उत्सव !! उन उत्सवों को देखने के लिए सूर्य भी बादलों की ओट से झाँक-झांक उठता था।

पच्चीस वर्ष हो गये। जब भी यह पन्द्रह अगस्त आता है, 'स्वतन्त्रता' की याद में प्रसन्नता का सागर उमड़ उठता है, बरसात में भी खुशी का बसन्त छा जाता है। दीप जलते हैं, मंगलगान होता है, आनन्द के नगाड़े बजते हैं, और लोग नाच-नाच कर गाते हैं—"बन्दे मातरम्, बन्दे मातरम्।"

जब भी पन्द्रह अगस्त आता है, एक और भी पवित्र याद आती है। वह याद है 'बापू' की, राष्ट्र-पिता गाँधी जी की।

विषय–सूची

बापू की या

में

पन्द्रह अगस्त ! बड़ा पवित्र है पन्द्रह अगस्त का दिन ! यही वह दिन है, जब भारत की दासता की बेड़ियाँ टूटी थीं, जब भारत पूर्ण स्वतंत्र हुआ था। १९४७ ई० का पन्द्रह अगस्त का दिन ! आकाश में बादल छाये थे। सारा भारत प्रसन्नता से हंस रहा था, रंग-विरंगी पोशाकों में सजकर नाच रहा था। चारों ओर खुशी के गीत, आनन्द के उत्सव !! उन उत्सवों को देखने के लिए सूर्य भी बादलों की ओट से झाँक-झाँक उठता था।

पच्चीस वर्ष हो गये। जब भी यह पन्द्रह अगस्त आता है, 'स्वतन्त्रता' की याद में प्रसन्नता का सागर उमड़ उठता है, बरसात में भी खुशी का वसन्त छा जाता है। दीप जलते हैं, मंगलगान होता है, आनन्द के नगाड़े बजते हैं, और लोग नाच-नाच कर गाते हैं—"बन्दे मातरम्,

जब भी पन्द्रह [illegible] याद आती है। [illegible] जी की [illegible]

यद्यपि भारत की दासता की बेड़ियों को काटने के लिए भारत माँ के अनेक सपूतों ने अपनी आहुतियाँ दी हैं, पर मानना होगा कि बापू का उसमें सबसे अधिक योग है। पन्द्रह अगस्त का पावन पर्व 'बापू' के 'तप' और 'त्याग' से ही, बिना रक्तपात के और शीघ्र घटित हुआ है। इसके लिए बापू के चरणों में श्रद्धा की जितनी भी अँजलियाँ चढ़ाई जायें, कम हैं।

पन्द्रह अगस्त के पावन पर्व को लाने के लिए बापू ने बड़े-बड़े तप किए, बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ झेलीं। अपने जीवन के प्रथम चरण से ही बापू 'तप और 'त्याग' के मार्ग पर चलने लगे। वे कितनी ही बार जेल गये, कितनी ही वार उन पर लाठियाँ पड़ीं, और कितनी ही बार वे अपमानित भी किये गए पर 'बापू' कभी न झुके-न मुकरे ? वे बराबर बड़े साहस के साथ भारत की दासता की बेड़ियों को काटने में लगे रहे। उनके साहस की प्रशंसा संसार के बड़े-बड़े महान् पुरुषों ने खुले कंठ से की है।

जार्ज बर्नड शॉ, जो अंग्रेजी का एक बहुत बड़ा लेखक है, एक स्थान पर कहता है—"गाँधी ने अपनी 'सच्चाई' और अहिंसा से अंग्रेजों की तोपों को शान्त कर दिया, बन्दूकों की गोलियों को ठंडा कर दिया ?"

सचमुच 'बापू' के चरणों में, उनके उठे हुए कदमों में महान् साहस छिपा था। १९३० ई० की बात है। बापू 'नमक-यज्ञ करने के लिए 'डांडी' की यात्रा कर रहे थे। उनके साथ और भी बहुत से चुने हुए सत्याग्रही थे। सामने ही पुलिस दल, सिर पर लोहे के टोप रखे हुए हाथ में मोटे मोटे डण्डे लेकर खड़े थे। वह और बापू के सत्याग्रहियों पर टूट पड़ा। 'सत्याग्रही लेट हुए सत्याग्रहियों पर भी डन्डे बरसने लगे। कितनों के

ही सिर फूट गए, कितनों ही के शरीर की हड्डियाँ भी टूट गईं। स्वयं 'बापू' को भी चोटें लगीं। पर क्या 'बापू' झुके ? नहीं, वे अपने रास्ते पर बराबर चलते रहे, और चलते रहे।

कितने ही अवसरों पर बापू ने अपने 'साहस' से, अपने हिंसक विरोधियों को भी 'क्षमा' माँगने के लिए लाचार कर दिया था। १९४२ ई० के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के सिलसिले में एक कट्टर-पंथी अंग्रेज़ ने 'बापू' के 'साहस' की याद इन शब्दों में की।' मन में होता है कि गाँधी और उनके अनुयायियों को मिटा करके ही दम लिया जाय, पर न जाने क्यों उस नंगे आदमी को देखकर दिल का जोश ठंडा पड़ जाता है।"

अंग्रेज़ व गोरों ने गांधीजी को मिटाने के लिए भरपूर कोशिश की। वे जानते थे कि एक दिन यह मनुष्य, जिसने अंग्रेजों को हिन्दुस्तान से बाहर निकालने के लिए अपनी छाती खोल रखी है, हिन्दुस्तान में अंग्रेजी हुकूमत के लिए कब्र खोद करके ही रहेगा। अतः अंग्रेज गोरे बराबर 'बापू' के पीछे पड़े रहते थे। दक्षिण अफ्रीका के आन्दोलनों से लेकर १९४७ ई० के पन्द्रह अगस्त तक, जब तक भारत स्वतंत्र नहीं हो गया था, अंग्रेज़ केवल 'बापू' को ही बदनाम करते रहे, उन्हें बराबर काँटों की झाड़ियों में भी घसीटते रहे। कई बार तो ऐसे अवसर आये, जब 'बापू' पर लज्जाजनक ढंग से वार भी किए गए।

आओ, आज जब 'बापू' को याद कर रहे हैं, तो ऐसी दो एक घटनाओं पर भी दृष्टि डाल लें। इसलिए दृष्टि डालने के इन घटनाओं में 'बापू' का वह अदम्य साहस देखने को मिलेगा जिसमें इन्द्र के वज्र-घोष को शान्त कर देने का 'दम' भरा हुआ था।

बापू उन दिनों भारत से दक्षिण अफ्रीका जा रहे थे। भारत

यद्यपि भारत की दासता की बेड़ियों को काटने के लिए भारत माँ के अनेक सपूतों ने अपनी आहुतियाँ दी हैं, पर मानना होगा कि बापू का उसमें सबसे अधिक योग है। पन्द्रह अगस्त का पावन पर्व 'बापू' के 'तप' और 'त्याग' से ही, बिना रक्तपात के और शीघ्र घटित हुआ है। इसके लिए बापू के चरणों में श्रद्धा की जितनी भी अँजलियाँ चढ़ाई जायें, कम हैं।

पन्द्रह अगस्त के पावन पर्व को लाने के लिए बापू ने बड़े-बड़े तप किए, बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ झेलीं। अपने जीवन के प्रथम चरण से ही बापू 'तप और 'त्याग' के मार्ग पर चलने लगे। वे कितनी ही बार जेल गये, कितनी ही बार उन पर लाठियाँ पड़ीं, और कितनी ही बार वे अपमानित भी किये गए पर 'बापू' कभी न झुके-न मुकरे? वे बराबर बड़े साहस के साथ भारत की दासता की बेड़ियों को काटने में लगे रहे। उनके साहस की प्रशंसा संसार के बड़े-बड़े महान् पुरुषों ने खुले कंठ से की है।

जार्ज बर्नड शॉ, जो अंग्रेजी का एक बहुत बड़ा लेखक है, एक स्थान पर कहता है—"गाँधी ने अपनी 'सच्चाई' और अहिंसा से अंग्रेज़ों की तोपों को शान्त कर दिया, बन्दूकों की गोलियों को ठंडा कर दिया ?"

सचमुच 'बापू' के चरणों में, उनके उठे हुए क़दमों में महान् साहस छिपा था। १९३० ई० की बात है। बापू 'नमक-यज्ञ करने के लिए 'डांडी' की यात्रा कर रहे थे। उनके साथ और भी बहुत से चुने हुए सत्याग्रही थे। सामने ही पुलिस दल, सिर पर लोहे के टोप रखे हुए हाथ में मोटे मोटे डण्डे लेकर खड़े थे। वह 'बापू' और बापू के सत्याग्रहियों पर टूट पड़ा। 'सत्याग्रही लेट गए। लेटे हुए सत्याग्रहियों पर भी डन्डे बरसने लगे। कितनों के

ही सिर फूट गए, कितनों ही के शरीर की हड्डियाँ भी टूट गईं। स्वयं 'बापू' को भी चोटें लगीं। पर क्या 'बापू' झुके ? नहीं, वे अपने रास्ते पर बराबर चलते रहे, और चलते रहे।

कितने ही अवसरों पर बापू ने अपने 'साहस' से, अपने हिंसक विरोधियों को भी 'क्षमा' मांगने के लिए लाचार कर दिया था। १९४२ ई० के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के सिलसिले में एक कट्टर-पंथी अंग्रेज ने 'बापू' के 'साहस' की याद इन शब्दों में की।' मन में होता है कि गांधी और उनके अनुयायियों को मिटा करके ही दम लिया जाय, पर न जाने क्यों उस नंगे आदमी को देखकर दिल का जोश ठंडा पड़ जाता है।"

अंग्रेज व गोरों ने गांधीजी को मिटाने के लिए भरपूर कोशिश की। वे जानते थे कि एक दिन यह मनुष्य, जिसने अंग्रेजों को हिन्दुस्तान से बाहर निकालने के लिए अपनी छाती खोल रखी है, हिन्दुस्तान में अंग्रेजी हुकूमत के लिए कब्र खोद करके ही रहेगा। अतः अंग्रेज गोरे बराबर 'बापू' के पीछे पड़े रहते थे। दक्षिण अफ्रीका के आन्दोलनों से लेकर १९४७ ई० के पन्द्रह अगस्त तक, जब तक भारत स्वतंत्र नहीं हो गया था, अंग्रेज केवल 'बापू' को ही बदनाम करते रहे, उन्हें बराबर काँटों की झाड़ियों में भी घसीटते रहे। कई बार तो ऐसे अवसर आये, जब 'बापू' पर लज्जाजनक ढंग से वार भी किए गए।

आओ, आज जब 'बापू' को याद कर रहे हैं, तो ऐसी दो एक घटनाओं पर भी दृष्टि डाल लें। इसलिए दृष्टि डालने के इन घटनाओं में 'बापू' का वह अदम्य साहस देखने को मिलेगा जिसमें इन्द्र के वज्र-घोष को शान्त कर देने का 'दम' भरा हुआ था।

बापू उन दिनों

ओर से ईंट-पत्थर बरसने लगे। 'बापू' के मित्र महोदय ने उनसे कहा—"चलिए रिक्शा पर बैठकर भाग चलें।" पर 'बापू' भागकर प्राण बचाने के लिए तैयार न हुए। बोले—"नहीं, मैं मृत्यु से डर कर कभी नहीं भागूँगा, और फिर उस सवारी पर, जिसे आदमी खींचता है।"

'बापू' के मित्र महोदय घबड़ा उठे। क्योंकि चारों ओर से गोरे, दौड़-दौड़ कर इकट्ठे होते जा रहे थे, 'मारो-मारो' की आवाज़ से धरती आकाश एक करते जा रहे थे। मित्र महोदय व्याकुल होकर बोल उठे—"मैं आपकी एक न सुनूँगा। आपको रिक्शा पर बैठकर मेरे साथ चलना ही होगा।"

और उन्होंने शीघ्र ही एक रिक्शेवाले को बुलाया। वे 'बापू' का हाथ पकड़कर रिक्शे की ओर बढ़े। पर अभी वे रिक्शे पर बैठ ही नहीं पाये थे कि गोरों ने पहुँचकर उन्हें चारों ओर से घेर लिया। गोरों ने रिक्शेवाले को तो भगा दिया, और 'बापू' के मित्र महोदय को घेर कर बगल में कर लिया। अब बच गये 'बापू'। 'बापू' पर पत्थरों, कंकड़ों और ईंटों की वर्षा होने लगी। किसी ने 'बापू' की पगड़ी उतार ली, किसी ने कुर्ते को नोचकर फाड़ डाला। किसी ने तमाचा लगाया, तो किसी ने लात। 'बापू' चक्कर खाकर गिरने वाले ही थे कि एक मकान की जाली उनके हाथ में आ गई। वे उसी को पकड़ कर खड़े हो गये। गोरे अब भी क्रोध में 'बापू' पर ईंटों और पत्थरों की वर्षा कर रहे थे।

संयोग की बात, एक अंग्रेज महिला उस ओर से निकली। उसकी 'बापू' पर दृष्टि पड़ी। वह डरबन के एक पुलिस अफसर की स्त्री थी और 'बापू' से परिचित थी। वह दौड़कर 'बापू' के पास आ पहुँची। उसने 'बापू' को अपने संरक्षण में ले लिया। इसी

समय ओर पुलिस आ पहुँची । पुलिस ने बापू को अपने संरक्षण में उनके मित्र के साथ 'रस्तम' जी के घर भेज दिया।

गोरों के अत्याचार की एक दूसरी घटना ओर भी अधिक प्राणों को कँपा देने वाली है । 'बापू' उन दिनों अपनी बैरिस्टरी के काम-काज से दक्षिण अफ्रीका में रहते थे ।

जाड़े के दिन थे, रात का समय था । धरती पर शीत टपक रही थी । 'बापू' एक मुकदमे में डरबन से प्रिटोरिया जा रहे थे । वे रेल के प्रथम श्रेणी के डिब्बे में सवार थे । उनके पास पहले दर्जे का टिकट था । उन्होंने पाँच शिलिंग अतिरिक्त देकर सोने की जगह का टिकट भी खरीद रखा था ।

रात के समय नौ बज रहे थे । रेलगाड़ी नेटाल की राजधानी मोरित्स वर्ग के स्टेशन पर खड़ी हुई । 'बापू' अपनी सीट पर बिस्तर बिछा कर लेटे हुए थे ।

सहसा एक गोरा आया, उसने डिब्बे में झाँक कर देखा, एक हिन्दुस्तानी । उसका पारा चढ़ गया, साथ ही साथ उसके मुख से आश्चर्य के साथ निकल पड़ा—"अरे पहले दर्जे के डिब्बे में काला हिन्दुस्तानी ।"

वह तेज़ी के साथ लौटकर स्टेशन में गया, स्टेशन के कर्मचारियों को बुला लाया । सबने बड़े विस्मय की दृष्टि से बापू की ओर देखा, पर किसी में साहस न होता था कि वह 'बापू' के पास जाकर कुछ कहता ! इसी समय एक गोरा अफसर आ पहुँचा । वह डिब्बे के भीतर जाकर 'बापू' से बोला—"चलो तुम्हें दूसरे डिब्बे में जाना होगा।"

बापू ने उत्तर दिया—"पर मेरे पास तो पहले दर्जे का टिकट है ।"

गोरा अफसर उपेक्षा के साथ बोल उठा—"होगा, पर तुम्हें अन्त के डिब्बे में ही बैठना होगा।"

बापू ने उत्तर दिया—"पर मैं तो डरबन से इसी डिब्बे में बैठकर आ रहा हूँ, और इसी डिब्बे में बैठकर जाना भी चाहता हूँ।"

गोरे अफसर की आँखों में क्रोध जाग उठा। वह क्रोध के स्वर में बोल उठा—"यह नहीं हो सकता! तुम्हें इस डिब्बे से उतरना ही होगा। यदि सीधे न उतरोगे, तो फिर सिपाही आकर उतार देगा।"

'बापू' ने बड़ी दृढ़ता के साथ उत्तर दिया—"मैं अपने आपको न उतारूँगा। सिपाही आकर भले ही उतार दे।"

गोरे अफसर की आँखें चढ़ गईं। उसके नथुने फूल उठे। वह झपटकर स्टेशन में गया, एक सिपाही बुला लाया। सिपाही ने पहुँचते ही झपट कर 'बापू' का हाथ पकड़ा, धक्का मारकर उन्हें नीचे गिरा दिया। साथ ही 'बापू' का सामान भी उतार दिया, उसे प्लेटफार्म पर बिखेर दिया। 'बापू' कुछ न बोले। रात भर उस कड़कड़ाती शीत में 'वेटिंग रूम' में पड़े रहे। पर उस गोरे अफसर की इच्छानुसार तीसरे दर्जे के डिब्बे में बैठने के लिए तैयार न हुए। वे तब तक उसी 'वेटिंगरूम' में पड़े रहे, जब तक दूसरी गाड़ी में पहले दर्जे के डिब्बे में जाने के लिए, उनके लिए प्रबन्ध नहीं कर दिया गया।

'बापू' पहले दर्जे के डिब्बे में बैठकर चार्ल्सटाउन पहुँचे। उन दिनों 'चार्ल्सटाउन' से जोहन्स बर्ग जाने के लिए रेल नहीं थी। यात्री घोड़ा-गाड़ी पर ही यात्रा किया करते थे। 'बापू' ने भी घोड़ा-गाड़ी का टिकट खरीदा।

पर घोड़ा-गाड़ी वाला गोरा था। घोड़ा गाड़ी पर जितने

यात्री सवार थे, वे भी 'गोरे' थे। उन्हें यह सहन न हुआ कि
एक काला हिन्दुस्तानी उनके साथ गाड़ी के भीतर बैठे। पर
बापू के पास घोड़ा-गाड़ी का टिकट था। आखिर, घोड़ा-गाड़ी
वाले ने 'बापू' को अपनी बगल में बिठा लिया।

घोड़ा-गाड़ी चल पड़ी। कुछ देर जाने पर एक गोरे
को जो भीतर बैठा हुआ था, खुली हवा में सिगरेट पीने
की इच्छा हुई। वह 'बापू' के पास पहुँचा, घोड़ा गाड़ी हांकने
वाले के पैरों के पास फटा हुआ टाट का टुकड़ा बिछा कर बोला
—"साथी, तू यहाँ बैठ। मैं हांकने वाले के पास तुम्हारी
जगह बैठूंगा।"

बापू का हृदय इस अपमान से तिलमिला उठा। फिर भी
वे बहुत ही सरल स्वर में बोले—"मुझे बाहर बैठाया गया, इस
अपमान को तो मैंने सहन कर लिया, पर जब तुम्हें सिगरेट
पीने की इच्छा हुई, तब तुम मुझे बाहर भी नहीं रहने देना
चाहते। मुझे हांकने वाले के पैरों के पास बैठने के लिए कह
रहे हो? मैं चाहे भीतर चला जाऊँ, पर हांकने वाले के
पैरों के पास बैठने के लिए तैयार नहीं?"

'बापू' का इतना कहना था कि उन पर थप्पड़ों की वर्षा
होने लगी। गोरा उनका हाथ पकड़ कर उन्हें जोरों से खींचने
लगा। 'बापू' ने सीखचों को दृढ़ता से पकड़ लिया, निश्चय कर
लिया कि कलाई भले ही टूट जाय, पर सींखचे न छोड़ेंगे।
आखिर, भीतर बैठे हुए कुछ यात्रियों को दया आई, उनमें से
एक बोल उठा—"अजी, क्यों उसे पीटते हो! वह ठीक तो
कहता है। यहाँ नहीं तो, उसे हमारे पास भीतर बैठने दो।"

आखिर, गोरा विवश हो उठा। वह बापू को छोड़ कर
.ने स्थान पर जा बैठा।

गोरों के अत्याचार की एक और कहानी सुनो—

बापू उन दिनों दक्षिण अफ्रीका के प्रिटोरिया नामक नगर में रहते थे। वे प्रतिदिन प्रातः काल प्रेसीडेन्ट स्ट्रीट में फुटफाथ पर होकर घूमने के लिए जाया करते थे। फुटपाथ के किनारे बड़े-बड़े अलीशान गोरों के मकान थे, जिनकी निराली सज-धज थी। उन्हीं मकानों में एक ऐसा भी मकान था, जिसमें बिलकुल आडम्बर न था। यहाँ तक कि उसमें कम्पाउन्ड तक न था। उसका पता केवल इसी बात से चलता था कि, उसके द्वार पर सन्तरी खड़ा रहता था, वह मकान राष्ट्रपति कूगर का था। 'बापू' प्रतिदिन 'कूगर' के मकान के सामने से ही होकर निकलते थे। द्वार का सन्तरी उन्हें प्रतिदिन देखा करता था।

एक दिन प्रातःकाल था। 'बापू' प्रतिदिन की ही भाँति प्रेसीडेण्ट 'कूगर' के मकान के सामने से निकले। 'बापू' ने सन्तरी को देखा, और सन्तरी ने 'बापू' को। पर आज सन्तरी की दृष्टि में कुछ औरही भाव था। यह सन्तरी नया था। 'बापू' को देखते ही उसके हृदय में क्रोध की आग जल उठी—"एक काले हिन्दुस्तानी में इतना साहस कि वह प्रेसीडेण्ट कूगर के मकान के सामने से होकर जाए। उसने बापू को आदेश दिया कि वे फुटपाथ से नीचे उतर जाए! अपना आदेश सुनाने के साथ ही साथ वह बापू के पास जा पहुँचा। उसने 'बापू' को जोर से धक्का दिया, उन्हें लातों से मारकर नीचे गिरा दिया।

'बापू' आश्चर्य-चकित हो कर खड़े हो गये, उस सन्तरी से इस बात का कारण पूछने लगे कि उसने उस पर क्यों आक्रमण किया? पर उत्तर देने की कौन कहे, वह तो क्रोध से और भी अधिक गुर्रा उठा। हो सकता है, वह 'बापू' पर और भी चोट करता, पर इसी समय एक भलामानस अंग्रेज आ पहुँचा,

उसने 'बापू' को बचा लिया।

'बापू' इसी प्रकार सदा गोरों के द्वारा सताये गये, अपमानित किए गए। पर 'बापू' ने बड़ी वीरता के साथ—बड़े साहस के साथ अंग्रेजों के अत्याचार सहे। वे अंग्रेजों के अत्याचार सह करके भी बराबर भारत की स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्न करते रहे। 'बापू' के प्रयत्नों में उनका साहस, उनकी निर्भिकता, उनकी सच्चाई, उनकी अहिंसा ही उनका संयम रहा है।

'बापू' ने भारत की स्वतन्त्रता के लिए तीन अनोखी लड़ाइयाँ लड़ीं। अनोखी इस लिए कि इन लड़ाइयों में 'बापू' और उनके अनुयायियों की ओर से 'बल' का प्रयोग बिल्कुल नहीं किया गया था, जब कि दूसरी ओर से अंग्रेजी शासन की ओर से लाठियाँ चलाई जाती थीं, घोड़े दौड़ाए जाते थे, लोगों को घसीटा जाता था, और कभी-कभी लोगों को गोलियों का निशाना भी बनाया जाता था। गिरफ्तार करके जेल पहुँचाना और जेलों में मारना तो साधारण सी बात थी।

'बापू' ने पहली लड़ाई १९२०-२१ ई० में लड़ी। इस लड़ाई को 'असहयोग आन्दोलन' कहते हैं। सरकारी स्कूलों में न पढ़ना, कचहरियों में न आना, विदेशी कपड़ों को जलाना, सरकारी टैक्स न देना,—आदि काम उस लड़ाई के अंग थे। 'बापू' की इस लड़ाई ने भारतीय जनता के हृदय पर जादू-सा कर दिया था। किसान, मजदूरों, गरीब, अमीर, वकील, वैरिस्टर, विद्यार्थी, अध्यापक-सभी उठ पड़े थे। गांव-गांव, नगर-नगर में असहयोग की आंधी सी चल पड़ी थी। लोग गाँधी जी की 'जय', जयकार, करते हुए अपने-अपने घरों से मूल्यवान विदेशी कपड़ों को निकालते, और देखते ही देखते उन्हें जला

स्टरों ने अपनी बैरिस्टरियाँ छोड़ दीं। पं० मोतीलाल नेहरू, डा० राजेन्द्र प्रसाद, पं० जवाहरलाल नेहरू, डा० अन्सारी, श्रीमती सरोजनी नायडू, सरदार वल्लभभाई पटेल आदि बड़े-बड़े नेता असहयोग आन्दोलन में ही मैदान में उतरे, 'बापू' के पथ पर चलकर भारत की स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्न करने लगे।

यद्यपि असहयोग आन्दोलन सफल नहीं हुआ, पर यह बात तो सत्य है कि इस आन्दोलन से भारत की जनता में भारत की स्वतन्त्रता के लिए एक अदम्य जागृति पैदा हो उठी। इस आन्दोलन से ही 'बापू' भारतीय जनता के हृदय में समा गए। भारत में एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक उनकी जय जयकार होने लगी। हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, इसाई सभी उन्हें अपना नेता मानने लगे। घर घर में उनके चित्र लग गए। वे 'महात्मा' के पद पर असीन हो गए, बहुत से लोग उन्हें 'अवतार' मानकर उनके चित्रों पर फूलमालाएँ और अक्षत चढ़ाकर धूप-दीप भी करने लगे।

'बापू' ने दूसरी लड़ाई १९३० ई० में शुरु की थी। इस लड़ाई में नमक बनाना, शराब की दुकानों पर धरना देना, सरकारी टैक्स न देना—आदि बातें सम्मिलित थीं। इस लड़ाई में लाखों लोग जेल गए, बहुत से लोग लाठियों और गोलियों के शिकार हुए। सरकार को जितना भी दमन करना था, किया; पर फिर भी गाँधी जी अपने रास्ते पर अड़े रहे। यद्यपि इस लड़ाई का प्रत्यक्ष रूप में कुछ फल न निकला, पर इस लड़ाई से अँग्रेजों को यह बात मालूम हो गई कि, अब भारत अँग्रेजों को शासक के रूप में छोड़कर जाना ही पड़ेगा।

'बापू' ने तीसरी लड़ाई १९४२ में लड़ी। इस लड़ाई में

धरना देना, अंग्रेज़ी सरकार का वहिष्कार करना, सरकारी इमारतों पर झण्डे लगाना, टैक्स न देना, सरकारी काम काज को रोकना—आदि वातें सम्मिलित थीं। बाद में रेलों की पटरियाँ उखाड़कर रेलें रोकना—आदि काम भी लोग करने लगे। इस लड़ाई में भी वहुत से लोग जेल गए, और वहुत से लोगों को लाठियों और गोलियों का शिकार भी होना पड़ा। इस लड़ाई को रोकने के लिए—वीर सत्याग्रहियों के साहस को दबाने के लिए अंग्रेज़ी हुकूमत की ओर से वड़े-वड़े अत्याचार किए गए। लोगों पर लाठियाँ और गोलियाँ तक ही नहीं चलाई गईं, बल्कि घर भी फूंके गए, वहन-वेटियों की 'हया' भी लूटी गई, लोगों को पेड़ों से बाँधकर पीटा गया, जंजीरों में बाँध कर घसीटा गया, पर फिर भी यह लड़ाई बन्द न हुई। लाठियों और गोलियों के वीच में भी यह लड़ाई चलती रही—वड़े साहस के साथ चलती रही।

१९४२ ई० की इस लड़ाई का नाम था—'भारत छोड़ो'। यह लड़ाई अपने काम के अनुसार ही फलदायी सिद्ध हुई। 'बापू' के तप, त्याग, सत्य, अहिंसा और कष्ट-सहिष्णुता ने अंग्रेज़ों को भारत छोड़ने के लिए विवश कर दिया। १९४७ ई० के पन्द्रह अगस्त को अंग्रेज़ी शासन भारत में समाप्त हो गया, अंग्रेज शासक के रूप में भारत से विदा हो गए। बस उसी दिन से, जब पन्द्रह अगस्त का दिन आता है, लोग पन्द्रह अगस्त को स्वाधीनता के महापर्व के रूप में मनाते हैं। १९७२ ई० के पन्द्रह अगस्त को सारे भारत की स्वतन्त्रता की रजत जयन्ती के रूप ... अपने समय के अहल्लाद को प्रकट किया है।

... दुःख है, 'बापू' ने स्वतन्त्रता के जिस दौरे को जगाया, उन्होंने अपने तप, त्याग, अहिंसा और सत्य के बल से

सींचा, और जिसके लिए उन्होंने अनेकानेक लांछन, अपमान और अत्याचार सहन किए, उसमें जब फल-फूल लगने लगे, तो वे उसके पहले ही संसार से विदा हो गये। १९४८ ई० की ३० जनवरी थी। लगभग साढ़े पाँच बजे थे। बापू प्रर्थना में संलग्न थे, सहसा उन्हें गोली लगी, और वे 'राम-राम' का उच्चारण करते हुए संसार से चले गए। 'बापू' संसार से भी चले गए, पर भारत की दासता की बेड़ियाँ काट गए। 'बापू' शहीद होकर अमर हो गए। जब तक भारत रहेगा, गंगा यमुना बहेगी, हिमालय रहेगा, 'बापू' की याद भारतीयों के हृदय में बसी रहेगी,—बसी रहेगी।

"बापू, सत्य और अहिंसा के अवतार थे। वे राजनीतिक नेता तो थे ही, एक महान् ऋषि भी थे। एक महान् ऋषि की ही भाँति वे सदा सच्चाई, अहिंसा, ईमानदारी और बन्धुता के रास्ते पर चलते रहे। उन्होंने अपना सब कुछ छोड़ दिया। प्रिय-से प्रियजनों का परित्याग कर दिया, पर उनसे सत्य और अहिंसा न छोड़ी गई। यही दो उनके अस्त्र थे। इन्हीं अस्त्रों को हाथ में लेकर वे स्वतंत्रता की राह पर चले थे, इन्हीं अस्त्रों से उन्होंने विजय प्राप्त की। इस युग में, जब चारों ओर 'स्वार्थ' और 'अहं' की आँधी चल रही है, 'सत्य' और 'अहिंसा' के मार्ग पर चलने वाला मुझे बापू के समान दूसरा कोई नहीं मिलेगा।

'बापू' राम के सच्चे भक्त भी थे। उनका राम कोठियों में नहीं, गरीबों की झोपड़ियों में बसता था। वे अपने राम को गरीबों में—झोपड़ियों में ही ढूंढ़ा करते थे। राम को प्रसन्न करने के लिए वे दिन-रात भूखों-नंगों की सेवा में लगे रहते थे। वे स्वयं आश्रम में रहते थे, हरिजनों की बस्ती में निवास करते थे। स्वयं सादा भोजन करते थे। नंगे बदन, केवल लंगोटी पहन कर रहते

थे। जाड़े के दिनों में तो शरीर पर चादर डाल लिया करते थे, पर गर्मी के दिनों में उनके शरीर पर एक घुटनों तक, धोती को छोड़कर और कुछ नहीं होता था। बापू ने तन-मन से अपने को गरीबों के साँचे में ढाल लिया था।

''बापू' ने कपड़े पहनने क्यों छोड़ दिए थे'—इस संबंध में 'बापू' के जीवन की एक बड़ी ही मार्मिक घटना मिलती है—'बापू' बराबर देश के कोने-कोने का दौरा किया ही करते थे। उनके साथ उनकी धर्म-पत्नी, कस्तूरबा भी कभी-कभी हुआ करती थीं।

एक बार 'बापू' उत्कल के गाँवों का दौरा करने के लिए गये। वे जहाँ भी गए, उन्हें फटे-पुराने कपड़े पहने हुए लोग ही देखने को मिले। बापू बड़े दुःखी हुए, स्त्रियों, बच्चों, बूढ़ों और जवानों को फटे और मैले-कुचैले कपड़ों में देखकर बापू का हृदय मथ उठा। वे समझ गए कि जिसे पेट भरने को भोजन नहीं मिलता, वह अच्छे कपड़े कैसे पहन सकता है ?

'बापू' उत्कल के गाँवों का दौरा करने के पश्चात् चम्पारन गए। 'चम्पारन' जिले के गाँवों में भी 'बापू' जहाँ भी गए, उन्हें 'दरिद्र नारायण' के ही दर्शन हुए। 'बापू' जिसे भी देखते, उसी के शरीर पर फटे-पुराने और मैले-कुचैले कपड़े। 'बापू' गाँव वालों के मैले-कुचैले कपड़ों को देखकर अधिक दुःखी होते, उन्हें उपदेश दिया करते कि वे साफ कपड़े पहना करें। 'बापू' के इस संदेश को 'कस्तूरबा' गाँवों की स्त्रियों के पास पहुँचाया करती थीं।

एक दिन कस्तूरबा, स्त्रियों की एक सभा में उपदेश दे रही थीं। वे गाँव की स्त्रियों को समझा रहीं थीं कि वे सफाई से ... सीखें। सहसा बीच में ही एक ग्रामीण स्त्री उठी, उनके ... बोल उठी—"माता जी, आप मेरे घर चल कर

देखिये, फिर मुझे सफाई से रहने का उपदेश दीजिए।"

सभा समाप्त होने पर वह स्त्री कस्तूरबा का हाथ पकड़ कर उन्हें अपने घर ले गई। घर में टूटी-फूटी दीवालों, सूनी, काली-काली हांडियाँ, टूटी चारपाई और उस पर चीथड़ों का ढेर। एक ही दृष्टि में उसकी गरीबी का पूरा चित्र 'बा' की आँखों के सामने नाच उठा। उसने 'बा' को एक फटी हुई, धोती दिखाते हुए कहा—"बा" इसके अतिरिक्त मेरे पास कोई कपड़ा नहीं। अब आप ही बतायें कि मैं कैसे सफाई से रह सकती हूँ? यदि आप 'बापू' से कहकर मुझे एक धोती दिला दें, तो मैं भी सफाई से रहा करूँ।"

उस स्त्री की बातें सुनकर 'बा' का हृदय दुःख से मथ उठा। उन्होंने तो उस की बात का कुछ उत्तर न दिया, पर जब बापू के कानों में यह समाचार पड़ा, तो उनकी आंखें सजल हो आईं। उन्होंने प्रतिज्ञा की कि, जब तक वे भारत माता के शरीर को न ढक लेंगे, स्वयं लंगोटी ही पहन कर रहेंगे।"

'बापू' की वह प्रतिज्ञा! बापू ने अपने जीवन के अन्त तक उस प्रतिज्ञा का पालन किया। बापू की जब यह प्रतिज्ञा पूर्ण हुई, तब स्वयं बापू ही न रहे। 'बापू' भारत माता का तन ढँक कर चले गए। 'बापू' के तप और त्याग का ही परिणाम है कि आज भारत माता रंग-बिरंगी पोशाकों में हँस रही है।

प्रथम राष्ट्रपति देश-रत्न डा० राजेन्द्र प्रसाद

घनी मूँछें, चमकती आँखें, प्रशस्त ललाट, चौड़ा मुख मंडल और मुख-मंडल पर उदार, गहरे विचारों की छाप। जो भी राजेन्द्र बाबू का दर्शन करता, उनकी सादगी, उनकी सरलता पर मोहित हो जाता। देश-विदेश के बड़े-बड़े विद्वानों ने, उनकी सादगी की, उनकी सरलता की और उनके ऊँचे गुणों की बहुत-बहुत प्रशंसा की है।

लार्ड लिनलिथगो ने जो कभी भारत के वायसराय थे, राजेन्द्र बाबू की चर्चा करते हुए एक स्थान में लिखा है—डा० राजेन्द्र प्रसाद बेर, बादाम और अंगूर में से अंगूरों के बने हैं। न वह बेर की तरह ऊपर से कोमल और भीतर से कठोर हैं, न बादाम की तरह ऊपर से कठोर और भीतर से कोमल हैं, यह तो भीतर बाहर, दोनों ही ओर से कोमल हैं। अंगूर की .१८ मीठे और रस पूर्ण हैं।"

आचार्य विनोबा भावे ने राजेन्द्र बाबू के ऊँचे गुणों की चर्चा करते हुए कहा है—"जो ऋषि होते हैं, वे खासकर गर्मी देते हैं। राजेन्द्र बाबू मुख्यतः हमारे पारिवारिक प्रेम के पिता के समान थे। इस लिए उन्होंने हमें अग्नि की तरह गर्मी दी है। हम समझते हैं, उनके गुणों का संग्रह करेंगे, और उनके स्मरण से अपने दोषों को जलायेंगे, और उन्होंने जो काम किया है, उसको पढ़ायेंगे।"

राजेन्द्र बाबू सादगी, सरलता, देश-प्रेम, सुगमता, उदारता और हृदय-विशालता की प्रतिमूर्ति थे। उनमें ये गुण जन्म-जात थे—ईश्वर की देन थे। अपने इन्हीं गुणों से वे स्वतन्त्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति के आसन पर आसीन हुए। राष्ट्रपति के आसन पर बैठने पर भी, उनके हृदय के जन्म-जात गुण, उनमें बने रहे। उनमें रंच मात्र भी बनावट—'अहम्' नहीं पैदा हुआ। वे जैसे पहले थे, राष्ट्रपति होने पर भी वैसे ही बने रहे। गोस्वामी तुलसीदास जी का निम्नांकित दोहा इस युग में भी उन पर खूब खरा उतरा—

भरत हिं होहि न राज मद,
विधि हरिहर पद पाइ॥

राजेन्द्र बाबू सचमुच भरत के ही समान थे।

'देश-प्रेम' राजेन्द्र बाबू में बचपन में ही था। बचपन में ही वे 'ईश्वर' का गुणगान करते थे, और देशी कपड़ा पहनते थे। यद्यपि उनका कुटुम्ब भरा-पूरा था, काफी धन-दौलत थी, पर बचपन में भी राजेन्द्र बाबू में कभी ठाट-बाट नहीं देखा गया। वे बचपन के दिनों में भी सबसे बड़ी सज्जनता से बातचीत करते

थे। पायजामा और कुर्ता ही उनकी पोशाक थी। राजेन्द्र बा
जब स्कूल में पढ़ते थे, तब भी उनकी यही पोशाक थी, औ
जब वे कालेज में पढ़ने के लिए कलकत्ता गए, तब भी उनक
यही पोशाक बनी रही।

बात उन दिनों की है, जब राजेन्द्र बाबू कलकत्ता में कालेज
में पढ़ने के लिए गए थे। उन्होंने कलकत्ता में प्रेसीडेंसी कालेज
में अपना नाम लिखाया। जब वे पहले-पहल अपनी कक्षा में
पहुँचे, तो कोट, पतलून और हैट लगाए हुए विद्यार्थियों को
देखकर भौंचक्के हो गए। उन्होंने मन में सोचा कि यह सब
एंग्लो-इंडियन हैं। पर जब हाजिरी ली गई तो उन्हें मालूम
हुआ कि ये सब भी हिन्दुस्तानी ही हैं। उन दिनों राजेन्द्र बाबू
यह सोच तक नहीं सकते थे कि क्या कोई हिन्दुस्तानी विद्यार्थ
भी ऐसी पोशाक पहन सकता है।

राजेन्द्र बाबू बराबर पायजामा टोपी पहनकर कालेज जाय
करते थे। उन्होंने एन्ट्रेन्स की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की
थी। कालेज के शिक्षकों और बहुत-से विद्यार्थियों को भी यह
बात मालूम थी। फिर भी उनके पाजामा-कुर्ता के कारण कभी-
कभी लोग उनका अपमान कर दिया करते थे। एक दिन तो
उनके वेश के कारण उनकी हाजिरी भी नहीं ली गई। सुनो,
जरा उस घटना को—

राजेन्द्र बाबू कालेज में पढ़ रहे थे। एक दिन जब हाजिरी
का समय हुआ तो शिक्षक महोदय रजिस्टर ले आए। उन्होंने
रजिस्टर में पढ़-पढ़कर एक-एक विद्यार्थी को पुकारा, पर राजेन्द्र
का नाम ही न लिया। राजेन्द्र बाबू चकित हो उठे। शिक्षक

महोदय जब रजिस्टर बंद करने लगे तो राजेन्द्र बाबू अपने स्थ
पर खड़े होकर बोल उठे—"महोदय, आपने मेरा नाम
पुकारा। मुझे अपना नम्बर नहीं मालूम है।"

शिक्षक ने राजेन्द्र बाबू की ओर देखकर उत्तर दिया
"ठहरो, मैंने मदरसा के लोगों की हाज़िरी नहीं ली है।"

शिक्षक ने चट एक दूसरा रजिस्टर उठाया। राजेन्द्र
समझ गए कि उनके पाजामा, कुर्ता और टोपी के कारण
उनकी हाज़िरी नहीं ली गई। वे चट बोल उठे—"महोदय
मदरसा में नहीं पढ़ता हूँ, प्रेसीडेन्सी कालेज में पढ़ता हूँ।
नाम राजेन्द्र प्रसाद है।"

लड़के चकित होकर राजेन्द्र बाबू की ओर निहार
"क्या यही वह राजेन्द्र प्रसाद है, जो एन्ट्रेंस की परीक्षा में
आया है। पढ़ने में इतना तेज और वेश ऐसा।" पर उन ल
को क्या मालूम, कि यह लड़का भारत की आत्मा है, इसकी
रग में हिन्दुस्तान, हिन्दुस्तानियत बसती है।

राजेन्द्र बाबू की बुद्धि बड़ी तेज थी। वे हाई स्कूल में
प्रथम आए थे। सर्वप्रथम आने के कारण उन्हें तीस
मासिक छात्रवृत्ति मिलती थी। एफ० ए० में भी वे प्रथम
थे। पर परीक्षा-फल सुनाने के समय एक ऐसी घटना
जिसने स्वयं राजेन्द्र बाबू को भी आश्चर्य में डाल दिया।
यह हुई कि परीक्षा-फल सुनाने के लिए अंग्रेज प्रिंसिपल
में आया। वह अभी नया-नया आया था। क्लास में सभी
एकत्र थे। प्रिंसिपल ने रजिस्टर में देख-देखकर सभी
लड़कों का नाम घोषित कर दिया, पर राजेन्द्र प्रसाद का

उसने लिया ही नहीं। उधर राजेन्द्र बाबू की दृढ़ धा
कि उन्होंने एफ० ए० में भी प्रथम स्थान प्राप्त किया है।
नहीं, कालेज के दूसरे विद्यार्थी भी जानते थे। फिर उनव
क्यों नहीं लिया गया। राजेन्द्र चकित होकर झट बोल
'महोदय, मेरा नाम क्यों नहीं लिया गया ?"

प्रिंसीपल ने उत्तर दिया—"तुम परीक्षा में पास
होगे, इसलिए तुम्हारा नाम ही नहीं लिया गया।"

राजेन्द्र बाबू दृढ़ता से बोल उठे—"ऐसा नहीं हो
महोदय ! मैंने अवश्य पास किया है।"

प्रिंसिपल ने उत्तर दिया—"ऐसा नहीं हो सकता !
तुमने पास किया होता तो सूची में अवश्य तुम्हारा नाम हो

पर राजेन्द्र बाबू मानने वाले कहाँ ? उन्हें तो दृढ़ वि
था कि उन्होंने परीक्षा पास की है। वे फिर कुछ कहने के
खड़े हुए। कुछ कहने ही वाले थे कि प्रिंसिपल क्रोधित हो
बोले—"चुप रहो, नहीं तो जुर्माना करूँगा।"

पर राजेन्द्र बाबू क्यों चुप रहने लगे ? उन्होंने कुछ
और प्रिंसिपल ने दस रुपया जुर्माना कर दिया। पर कौन
है इस जुर्माने को ? राजेन्द्र बाबू अपनी बात कहते ही
प्रिंसिपल भी हर बार जुर्माना करता गया। जुर्माना बढ़ते-
पच्चीस रुपया हो गया। पर फिर भी राजेन्द्र बाबू का बो
न बन्द हुआ। इसी समय हेड क्लर्क क्लास में पहुँचा। उ
राजेन्द्र बाबू को चुप हो जाने का संकेत किया क्योंकि ग
उसी की थी। उसकी गलती से राजेन्द्र बाबू का नाम सूच
लिखे जाने से छूट गया था। अंत में सूची ठीक की गई, 'रा
बाबू परीक्षा में सर्वप्रथम उत्तीर्ण घोषित किए गए।

राजेन्द्र बाबू विद्यार्थी जीवन में ही स्वदेश और स्वदेशी से गहरा प्रेम करते थे। जिन दिनों वे बी० ए० में पढ़ते थे, एक संस्था में भरती होकर देश की सेवा का काम किया करते थे। उस संस्था का नाम था 'डान सोसाइटी'। डान सोसाइटी का मुख्य काम स्वदेशी चीज़ों का प्रचार करना था। राजेन्द्र बाबू भी इस संस्था के सदस्यों में से थे। एक बार 'सोसाइटी' की ओर से घोषणा की गई कि जो सोसाइटी की स्वदेशी चीज़ों को साल भर में सबसे अधिक खरीद कर काम में लायेगा, उसे सोसाइटी की ओर से पुरस्कार दिया जायगा। तुम्हें यह सुनकर आश्चर्य होगा कि सोसाइटी का वह पुरस्कार राजेन्द्र बाबू को ही मिला था। राजेन्द्र बाबू ने बड़ी-बड़ी चीज़ों की तो बात ही क्या, छोटी-छोटी चीज़ें तक स्वदेशी ही खरीदी थीं। यहाँ तक कि उन्होंने अपने क़लम का 'निब' तक स्वदेशी ही खरीदा था। राजेन्द्र बाबू के मन में स्वदेशी चीज़ों से इतना गहरा प्रेम था कि एक बार उन्होंने अपने क़ीमती विदेशी कपड़ों को भी जलाने में संकोच नहीं किया था। उन्होंने देखते ही देखते अपना ट्रंक खोलकर विदेशी कपड़े निकाले, और उन्हें बिखेरकर उनमें आग लगा दी। वे इस प्रकार जलने लगे, जिस प्रकार घास-फूंस जलती है।

राजेन्द्र बाबू, विद्यार्थी जीवन में ही, जब वे १९०५ ई० में एम० ए० में पढ़ रहे थे, सभाओं में भाषण देने लगे थे। उन दिनों सारे बंगाल में स्वदेशी का आन्दोलन बड़े ज़ोरों में चल रहा था। अरविन्दनाथ घोष, विपिनचन्द्र पाल आदि बड़े-बड़े नेताओं के भाषण प्रायः होते ही रहते थे। राजेन्द्र बाबू इन नेताओं के भाषणों को बड़े चाव से सुना करते थे। इन नेताओं के भाषणों का उनके हृदय पर ऐसा गहरा प्रभाव पड़ा कि वे स्वयं स्वदेशी वस्तुओं के

ऊपर व्याख्यान देने लगे, अपने साथी विद्यार्थियों को स्वदेशी चीजें अपनाने के लिए प्रोत्साहित करने लगे।

राजेन्द्र बाबू का देश-प्रेम उन्हें धीरे-धीरे देश की ओर खींचता जा रहा था। फिर भी वे पढ़ने में लगे रहे। वे पढ़ते भी थे, और साथ ही देश की सेवा के काम भी समय-समय पर किया करते थे। १६०६ ई० में जब कलकत्ता में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ, तो राजेन्द्र बाबू ने उसमें स्वयंसेवक के रूप में काम किया।

राजेन्द्र बाबू ने एक-एक करके बी० ए०, एम० ए० और वकालत की परीक्षाएँ पास कीं। जिन दिनों राजेन्द्र बाबू कलकत्ता में वकालत पढ़ रहे थे, उन्हें माननीय गोखले जी के सम्पर्क में जाने का सुअवसर प्राप्त हुआ। गोखले एक बहुत बड़े नेता थे। वे सारे देश में घूम-घूम कर ऐसे लोगों को तैयार कर रहे थे, जो देश की सेवा के लिए अपना पूरा जीवन दे सकें। इसके लिए उन्होंने एक संस्था भी खोल रखी थी—"सर्वेन्ट आफ इंडिया सोसाइटी"। सर्वेण्ट आफ इंडिया सोसाइटी आज भी मौजूद है, देश की सेवा के कार्यों में संलग्न है।

राजेन्द्र बाबू जब गोखले से मिले, तो गोखले एक ही दृष्टि में राजेन्द्र बाबू के उन गुणों को पहचान गए, जो रत्न की भाँति उनके हृदय में छिपे हुए थे। फिर तो गोखले राजेन्द्र बाबू को देश की सेवा के मार्ग पर चलने के लिए उत्साहित करने लगे। गोखले ने राजेन्द्र बाबू को उत्साहित करते हुए जो शब्द कहे, वे बड़े मार्मिक और महत्वपूर्ण हैं। तुम भी सुनो, गोखले के उन शब्दों को—"हो सकता है, तुम्हारी वकालत खूब चले, बहुत रुपए पैदा कर सको, बहुत आराम और ऐशो-इशरत में दिन बिताओ। बड़ी कोठी, घोड़ा-गाड़ी, नौकर इत्यादि दिखावट के सामान, जो अमीरों

के हुआ करते हैं, तुमको सब मयस्सर हों। पर मुझ का भी दावा कुछ लड़कों पर होता है, और चूंकि तुम पढ़ने में अच्छे हो, इसलिये तुम पर यह दावा और भी अधिक है।"

गोखले ने राजेन्द्र बाबू को प्रोत्साहित करते हुए और भी आगे कहा—"हो सकता है, तुम्हारे परिवार के लोग नाराज हों और दुःखी हों, पर यह विश्वास रखो, सब लोग अन्त में तुम्हारी पूजा करेंगे। लोगों की सारी उम्मीदें तुम पर बंधी हैं, पर कौन जानता है, अगर तुम्हारी मृत्यु हो गई तो उसे तो वे लोग बर्दाश्त कर ही लेंगे।"

माननीय गोखले की बातों ने राजेन्द्र बाबू के मन पर जादू-सा कर दिया। वे घर-द्वार, कुटुम्ब सबको भूल कर देश-सेवा का व्रत लेकर उनकी सोसाइटी में सम्मिलित हो गए। पर वकालत भी पढ़ते रहे। अन्य परीक्षाओं की भाँति वकालत की परीक्षा में भी वे प्रथम आये। वे कलकत्ता में ही रहकर वकालत करने लगे। पर १६१६ ई० में जब पटना में हाईकोर्ट खुला तो वे पटना चले गए और वहाँ वकालत करने लगे। थोड़े ही दिनों में उनकी वकालत चमक उठी, उनकी गणना सुप्रसिद्ध वकीलों में होने लगी।

माननीय गोखले राजेन्द्र बाबू को देश-सेवा के मार्ग पर चलने के लिए प्रोत्साहित कर चुके थे। राजेन्द्र बाबू 'सर्वेण्ट आफ इंडिया सोसाइटी' के सदस्य भी बन चुके थे। अतः वे वकालत करते हुए समय-समय पर देश की सेवा के कार्य भी किया करते थे। कभी समाज-सेवा, कभी हिन्दी-सेवा, कभी अनाथों की सेवा और कभी गरीब विद्यार्थियों की सेवा! पर उनका भविष्य पर्दे की ओट में बैठकर उनके लिए एक महान सेवा का मैदान तैयार कर रहा

था। वह सेवा थी, देश की सेवा—देश की दासता की बेड़ियों को काटने का काम।

राजेन्द्र बाबू यद्यपि देश की सेवा का व्रत ले चुके थे, पर मुख्य रूप से वे देश की सेवा के मार्ग पर उस समय से चलने लगे, जब वे गाँधी जी के सम्पर्क में आए। सर्वप्रथम उन्होंने गांधी जी का दर्शन १९१५ ई० में किया था। पहले तो उन पर गांधी जी का प्रभाव न पड़ा, पर १९१६ ई० के बाद वे ज्यों-ज्यों गाँधी जी के सम्पर्क में आने लगे, उन पर गाँधी जी का प्रभाव पड़ने लगा। धीरे-धीरे उन्होंने गाँधी जी के सभी सिद्धान्तों और आदर्शों को आत्मसात् कर लिया। इस प्रकार आत्मसात् कर लिया कि वे स्वयं दूसरे गाँधी बन गये। उन्हें लोग 'बिहार के गाँधी' के नाम से भी पुकारते थे।

गाँधी जी की भाँति ही राजेन्द्र बाबू भी सत्य, अहिंसा, अछूतोद्धार और राष्ट्रीय-एकता को ही आधार मानकर देश-सेवा के मार्ग पर चलते थे। गाँधी जी ने जब-जब देश की स्वतन्त्रता के लिए लड़ाई का बिगुल बजाया, राजेन्द्र बाबू आगे आए। उन्होंने गाँधी जी के सिद्धान्तों पर चलते हुए लड़ाई में योग दिया, वे जेल गए और उन्होंने अनेक प्रकार के कष्ट भी सहन किये। देश को स्वतंत्र कराने के लिए उन्होंने अपनी बहुत बड़ी आय वाली वकालत छोड़ दी, घर-द्वार छोड़ दिया, परिवार छोड़ दिया। परिवार संकटों में फँस गया, ऋणी हो गया, पर राजेन्द्र बाबू गाँधीजी के साथ-साथ देश की स्वतंत्रता के मार्ग पर आगे बढ़ते ही गये।

१९२१ से लेकर १९४२ ई० तक के समय के बीच में राजेन्द्र बाबू को बार-बार जेलों में जाना पड़ा। बार-बार जेलों में जाने के कारण उनका स्वास्थ्य खराब हो गया—वे दमे के

रोगी बन गए। कई बार तो जेलों में ही दमे के इस रोग ने इन्हे
इतना तंग किया कि उन्हें मरणासन्न तक हो जाना पड़ा था। पर
फिर भी वे एक तपस्वी की भाँति निरन्तर देश-सेवा के कार्यों मे
योग देते ही रहे। जब भी कभी देश की सेवा के लिए पुकार
होती थी, वे अपने को भूल जाते थे, अपने रोग को भूल जाते थे
और मृत्यु को ललकारते हुए देश-सेवा के कार्यों में जुट जाते थे
उनकी लगन, उनकी निष्ठा को देखकर स्वयं गांधी जी को भ
बड़ा आश्चर्य होता था।

राजेन्द्र बाबू गांधी जी के दाँए-बाँए हाथ थे। बड़े-बड़
कांग्रेसी नेता राजेन्द्र बाबू को गांधी जी का जासूस मानते थे
इसका कारण यह था कि गांधी जी उन पर बड़ा भरोसा औ
विश्वास करते थे। एक बार स्वतंत्रता की लड़ाई के दिनों मे
राजेन्द्र बाबू को बारडोली जाना पड़ा था। उन दिनों बारडोल
में सर वल्लभ भाई पटेल के नेतृत्व में सत्याग्रह की लड़ाई चर
रही थी। राजेन्द्र बाबू गांधी जी की ओर से उस लड़ाई में यो
देने गए थे।

सरदार पटेल ने एक दिन राजेन्द्र बाबू की चर्चा करते हुए
उन्हीं दिनों अपने एक साथी से कहा था—"जानते हो, यह बु
जैसा आदमी यहाँ क्यों है ? यह 'बापू' का खुफिया है। हम-स
पर नज़र रखने के लिए उन्होंने इसे यहाँ तैनात किया है।"

इस पर सरदार पटेल के उस साथी ने बड़ी उत्सुकता
उनसे प्रश्न किया—"आई सी, यह सीधी-सादी गाय क्या जासू
करेगी ?"

सरदार पटेल ने व्यंग्यपूर्वक उत्तर दिया—"गाय नहीं, बाबू
कामधेनु है यह ! दूध पिलाकर हम सब को अहिंसक बना देगी।"

उन्हीं दिनों का एक और प्रसंग है, जिससे यह प्रकट होता है कि राजेन्द्र बाबू गांधी जी के दाँए-बाँए हाथ के सदृश थे।

राजेन्द्र बाबू का दमे का रोग उन दिनों उभरा हुआ था। वे प्रायः रात-रात भर खांसते रहते थे। एक दिन सरदार पटेल ने अपने एक साथी से, जिनका नाम कुंवर जी भाई था, कहा —"बापू का पत्र आया है। राजेन्द्र बाबू खाँसते यहाँ हैं, और नींद हराम होती है वहाँ बापू की। किसी वैद्य को बुला दो।"

वैद्य की दवा की गई, पर खाँसी और भी बढ़ गई। इस पर सरदार पटेल ने एक दिन कुंवर जी भाई से कहा—"बापू को चिट्ठी लिख दो कि राजेन्द्र बाबू की खाँसी का इलाज वैद्यों के पास नहीं है, आप ही के पास है। स्वराज्य मिलते ही इनकी खाँसी मिट जायेगी।"

कांग्रेस के बड़े-बड़े नेताओं में, राजेन्द्र बाबू ने गांधी जी के सिद्धान्तों को जितना अपनाया था, उतना और किसी ने नहीं। खान-पान, वेश-भूषा, रहन-सहन और विचार आदि हर एक क्षेत्र में राजेन्द्र बाबू गाँधी जी के ही मार्ग पर चला करते थे।

राजेन्द्र बाबू प्रायः सादे चाल-ढाल से ही रहते थे। उनमें कभी कृत्रिमता नहीं आई। कपड़ों के बनावट की ओर उन्होंने कभी ध्यान नहीं दिया। स्वतंत्रता की लड़ाई के दिनों से लेकर, राष्ट्रपति के पद पर रहने तक उन्होंने कभी बनावट को महत्व नहीं दिया। वे धोती, कुरता, जाकेट, और सिर पर गांधी टोपी पहनते थे। उनकी धोती एक ओर तो घुटने तक रहती थी, और दूसरी ओर एड़ी को छूती रहती थी। स्वतंत्रता की लड़ाई के दिनों में कई बार उनके कुर्ते में पेवंद भी देखा गया था। 'जाकेट' के बटन को बन्द करने की ओर उनका कभी ध्यान न रहा।

'जाकेट' का कभी कोई बटन खुला रहता था, तो कभी कोई। 'टोपी' तो कभी सिर के ऊपर जम कर न बैठी। कभी किसी ओर झुकी रहती थी, तो कभी किसी ओर। यही हाल सिर के बालों का भी था। जब देखो, तब उनके बाल बिखरे हुए ही रहते थे। बालों का बनाव-श्रृंगार क्या होता है? यह तो उन्होंने जाना ही नहीं था।

एक बार इलाहाबाद में 'आनन्द भवन' में कांग्रेस की कार्य-समिति की बैठक हो रही थी। राजेन्द्र बाबू भी उसमें सम्मिलित हुए थे। उनके कपड़े बिलकुल अस्त-व्यस्त थे। उनके कपड़ों को देखकर पं० मोती लाल नेहरू ने उनसे प्रश्न किया—"आखिर, आप कपड़े पहनते ही क्यों हैं?"

राजेन्द्र बाबू ने शीघ्र ही अपने ढंग से उत्तर दिया—"शरीर ढकने और बचाने के लिए।"

राजेन्द्र बाबू ने कभी 'ब्रुश' और मंजन का भी उपयोग नहीं किया था। वे सदा नीम की दातुन किया करते थे। नीम की दातुन करने के कारण उनके दाँत अंत तक बने रहे। जब वे राष्ट्रपति हुए, तो एक बार उनके धवल और स्वस्थ्य दाँतों को देखकर उनकी नर्स को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने विनम्रतापूर्वक उनको प्रश्न किया—"श्रीमान्, क्या ये नकली दाँत हैं?"

राजेन्द्र बाबू ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"मेरी कोई चीज नक़ली नहीं है।"

जिस प्रकार गांधी जी ने अपने को गरीबी के साँचे में ढाल लिया था, उसी प्रकार राजेन्द्र बाबू ने भी अपने को भारत के किसानों के साँचे में ढाल लिया था। वे भीतर-बाहर सब ओर से बिलकुल किसान से लगते थे। एक बार जब वे राष्ट्रपति के

आसन पर थे, पं० विजयलक्ष्मी पंडित राजदूत की हैसियत से मैक्सिको गईं। उन्होंने मैक्सिको के राष्ट्रपति के सामने, अपने देश के राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद का फोटो उपस्थित किया। मैक्सिको के राष्ट्रपति ने राजेन्द्र बाबू के फोटो को ध्यान से देख कर कहा—'अरे, यह तो मैक्सिको के किसान का चेहरा है। यदि इनके सिर पर टोपी की जगह 'सोवेशरो' को रखें, तो यह हू-ब-हू मैक्सिको के किसान लगते हैं।'

राजेन्द्र बाबू को 'किसान' बहुत ही प्यारे लगते थे। वे गांवों और किसानों के सखा थे। एक बार लार्ड वेवल ने राजेन्द्र बाबू से कहा कि "यदि आपसे पूछा जाये कि आप कौन-सा विभाग लेंगे, तो आपका क्या उत्तर होगा ?" राजेन्द्र बाबू ने बिना किसी हिचकिचाहट के उत्तर दिया—"खाद्य और कृषि, क्योंकि ये मेरे लिये बिलकुल अपने हैं।"

राजेन्द्र बाबू केवल वेश से ही नहीं, खान-पान के क्षेत्र में भी गांधी जी के पूर्ण अनुयायी थे। वे गांधी जी की तरह पूर्ण शाकाहारी थे। चपाती, दाल, भात और शाक-सब्ज़ी—यही उन का भोजन था। उनके भोजन में 'संदेश' का एक टुकड़ा अवश्य होता था। आम के दिनों में वे आम अवश्य खाते थे। चाय वे बहुत कम पीते थे। राष्ट्रपति होने पर उन्हें विवश होकर 'चाय' पीनी पड़ती थी। वे छूतछात नहीं मानते थे, पर वे अपना भोजन बड़ी शुद्धता से करते थे।

राजेन्द्र बाबू ने अपने जीवन में कभी गोश्त, अंडा और मछली को भोजन के रूप में नहीं ग्रहण किया। प्याज, लहसुन, और मिर्च मसाले का उपयोग भी वे बहुत कम ही किया करते

े। जब वे राष्ट्रपति थे, तो उन्हें इस बात का बड़ा दुःख रहता
ा कि सरकार की ओर से मेहमानों को भोजन में मांस परोसा
ाता है। विश्व शाकाहारी सम्मेलन में एक पत्र-संवाददाता ने
नसे प्रश्न किया—"अब भी राष्ट्रपति भवन में माँस क्यों परोसा
ाता है ?" राजेन्द्र बाबू ने हँसते हुए उत्तर दिया—"मैं तो शाका-
ारी हूँ, लेकिन मेरी सरकार नहीं।"

केवल वेश-भूषा, और खान-पान से ही नहीं, विचारों के
त्र में भी राजेन्द्र बाबू गांधी जी के ही चरण-चिन्हों पर चलते
। वे गांधी जी की भाँति ही सत्य और अहिंसा में सच्ची आस्था
रते थे, और बड़ी उदारता के साथ अपने विरोधियों को क्षमा
र दिया करते थे। बात बहुत पुरानी है। उन दिनों राजेन्द्र
बू बिहार प्रदेश-कांग्रेस के प्रधान मंत्री थे। मौलाना मजरूल
 अध्यक्ष थे। 'हक़' साहब बड़े तेज़ मिजाज़ के थे। एक दिन
सी शिकायत पर कुढ़कर वे राजेन्द्र बाबू के पास सदाकत
श्रम में जा पहुँचे। राजेन्द्र बाबू ज़मीन पर बैठकर चर्खा
त रहे थे। 'हक़' साहब ने पहुँचते ही राजेन्द्र बाबू को अनाप-
ाप गालियाँ सुनानी शुरू कर दीं। राजेन्द्र बाबू चर्खा-
ातते हुए चुपचाप उनकी गालियाँ सुनते रहे। पाँच-छः मिनट
बाद, वे उनकी गालियों के बीच में ही उठे और पेशाब करने
लेए चले गए। जब लौट कर आए तो फिर पहले की भाँति
र चर्खा कातने लगे। मौलाना अब चुप थे। मौलाना को
 देखकर राजेन्द्र बाबू ने उनसे पूछा—"क्यों मौलाना साहब,
की गालियाँ खत्म हो गयीं ?"

राजेन्द्र बाबू की सुजनता, उदारता और हृदय-विशालता
मौलाना पर इतना प्रभाव पड़ा कि उनकी आँखें भर आयीं।

े राजेन्द्र बाबू के पैर पकड़ कर उनसे क्षमा मांगने लगे
वहाँ क्षमा का प्रश्न ही कहाँ था। राजेन्द्र बाबू के हृदय
उनके विरुद्ध कुछ था ही नहीं।

राजेन्द्र बाबू गांधी जी की ही भांति पूर्ण अहिंसावा
उन्होंने कभी भी अहिंसा का परित्याग नहीं किया। पर ज
पर आपदाओं के बादल घिर जाते थे, तो वे 'अहिंसा' प
दूसरी दृष्टि से विचार करते थे। १९६२ ई० के अक्तूबर
थे। राजेन्द्र बाबू राष्ट्रपति-पद से अवकाश ग्रहण कर चुके
चीन ने भारत के विरुद्ध जंग छेड़ दी थी। राजेन्द्र बाबू ने
की एक सभा में भारतीय जनता को आह्वान करते हुए क
"हमने अहिंसा के द्वारा एक ऐसी ताक़त से आजादी ली, जो
बड़ी ताक़तों में गिनी जाती थी। आज दूसरा समय आय
अहिंसा से महात्मा गांधी ने जो आजादी प्राप्त की, उसे आ
कतानुसार हिंसा और अहिंसा दोनों ही तरीकों से बचाना है
हिंसा के रास्ते से चलकर देश को बचाना चाहते हैं, वे
रास्ते से आगे बढ़ें, और जो अहिंसा से ही आजादी की
करना चाहते हैं, वे उस रास्ते से आगे बढ़ें। पर आज यह सो
का समय नहीं है कि कौन रास्ता अच्छा है और कौन बुरा
मुख्य बात तो यह है कि आज हमें हर हालत में भारत को स्व
रखना है।"

राजेन्द्र बाबू ने और आगे कहा—"संसार इस बात का ग
कि भारत ने किसी भी देश की ओर बुरी नजर से नहीं दे
। पर लड़ाई के समय हमारी कोशिश होनी चाहिये कि
... कहीं भी जाकर शत्रु का मुकाबला करें। च
से चोरों की तरह हमारी भूमि में घुसा, वहाँ से उसके प

उलट देने चाहियें। यदि चोरी-चुपके दो-चार चीनी आक्रामक हमारे गाँवों में पहुँच जायें, तो हमें देखना है कि उन्हें खाने-पीने और रहने के लिए जगह न मिले और यदि वे मर जायें, तो हमें यह देखना है कि उनकी लाशें गाड़ने के लिए जगह न मिले।'

इस प्रकार राजेन्द्र बाबू पूर्ण अहिंसावादी होते हुए भी, देश के प्रश्न पर हिंसा से घृणा नहीं करते थे। उनके लिए देश की स्वतंत्रता सर्वोपरि थी। उनका त्याग, उनका तप, उनकी अहिंसा और उनका सत्य--सब कुछ देश था। वे 'देश' के लिए ही धरती पर आये थे और देश की सेवा करते-करते ही धरती से चले गये। उनका आना और जाना दोनों ही भारतीयों को सदा याद रहेगा, और याद रहेगा!

राजेन्द्र बाबू अपने तप, त्याग, देश-प्रेम और ऊँचे गुणों के कारण ही १९५२ ई० में स्वतंत्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति-पद पर प्रतिष्ठित हुए। लगभग ग्यारह वर्षों तक राजेन्द्र बाबू राष्ट्रपति-पद पर रहे। उन्होंने राष्ट्रपति-पद पर रहकर बड़ी खूबी के साथ अपने कर्त्तव्यों का पालन किया। इस सम्बन्ध में स्वर्गीय पं० जवाहरलाल नेहरू के कुछ शब्द, जो उन्होंने राजेन्द्र बाबू पर प्रकट किये थे, देखने योग्य हैं :—

राजेन्द्र बाबू का और मेरा पैंतालिस बरस का साथ रहा। कम से कम चालीस साल तक तो हम साथ-साथ काम करते रहे। पहले तो हम आजादी की लड़ाई में साथ रहे, उसके बाद वह राष्ट्रपति बने, और मैं उनका मंत्री रहा। इस लम्बे अरसे में मैंने उनको बहुत देखा और उनसे बहुत कुछ सीखा। हजारों तस्वीरें आज मेरे सामने से गुजर जाती हैं।

हलके-हलके इस युग के बड़े-बड़े नेता गुजरते गये,

लेकिन खुशनसीबी यह थी कि यह सिलसिला टूटा नहीं और उसको जारी रखने में राजेन्द्र बाबू का बहुत बड़ा हाथ था। एक मामूली हैसियत से वे भारत के ऊँचे ओहदे पर पहुँचे। फिर भी उन्होंने अपना तर्ज नहीं बदला। हिन्दुस्तानियत उनमें सोलह आने थी। व्यक्तित्व की महानता के साथ-साथ उनकी सरलता और नम्रता बराबर बनी रही। उन्होंने ऐसी मिसाल कायम की जिससे भारत की शान और इज्जत बढ़ी। वह इस बात के नमूने बन कर रहे कि भारत की भारतीयता को कायम रखना और नई बातों को सीखना है। वास्तव में वह भारत के प्रतीक हो गए।'

उनके राष्ट्रपति-पद पर रहने के बारह सालों का ज़माना भारत का अच्छा ज़माना गिना जाएगा। इस ज़माने में हमने जो कुछ किया, उनकी निगहबानी में किया और शान से किया। हम यदि गलती करते थे तो वह हमें सँभालते थे। यह बारह साल का ज़माना तो उनका जमाना समझा जाएगा। जो जिन्दा कौम होती है, वह जब मौक़ा आता है, कोई न कोई बुलन्द इन्सान पैदा कर देती है। राजेन्द्र बाबू ने अपना सिक्का इस ज़माने पर डाला और उससे हमारा सिर ऊँचा हुआ। हिन्दुस्तान की आज़ादी मज़बूती से जमी, जबकि और देशों में, खास तौर से पड़ोसी देशों में कितनी बार उलट-फेर हुई है, हिन्दुस्तान और मुल्कों के मुक़ाबले किस क़दर मज़बूती से चला है। उस पर चीन का हमला हुआ और हमने उसका मुक़ाबला किया, फिर भी किसी तरह की अदल-बदल नहीं हुई। यह उसी गाँधी-युग की देन है, जिसने न [illegible] आज़ादी और एकता दी, बल्कि ऐसी परम्पराएँ भी पैदा [illegible] जिनसे आज़ादी की जड़ें बहुत गहराई से जम गईं, राजेन्द्र [illegible] इस युग की मज़बूत कड़ी थे।

"उनकी मुद्रा और आँखें भुलाई नहीं जा सकतीं, क्योंकि उनसे सचाई झलकती थी। उनकी काबलियत, उनके दिल की सफाई और अपने मुल्क के लिए उनकी मुहब्बत ने उनके लिए हर भारत-वासी के दिल में जगह पैदा कर दी।"

राजेन्द्र बाबू राष्ट्रपति-पद पर प्रतिष्ठित होने पर भी नहीं बदले। वे जिस प्रकार पहले सरल, निराभिमानी, त्यागी और उदार हृदय के थे, उसी प्रकार राष्ट्रपति होने पर भी सरल, उदार, निराभिमानी बने रहे। उनके राष्ट्रपति-काल की निम्नांकित कुछ घटनाएँ उनकी सरलता और उनकी उदारता के बड़े सुन्दर चित्र सामने रखती हैं—

राजेन्द्र बाबू राष्ट्रपति के रूप में पहले-पहल राष्ट्रपति भवन में गए। उन्होंने उस कमरे में जाकर, जिसमें उन्हें रहना था, उन सभी चीजों को देखा, जो उनके उपयोग के लिये थीं। उन सभी चीजों में एक पलंग भी था। उस पलंग पर, अंग्रेजी शासन के दिनों में वायसराय शयन करते थे। राजेन्द्र बाबू उस पलंग के पास पहुँचे। उन्होंने उसे जोर से दबाया, स्प्रिंगदार होने के कारण वह दबाने से काफी नीचे तक चला गया। राजेन्द्र बाबू चकित हो उठे। उन्होंने आश्चर्य के साथ कहा—"मेरे लिए यह पलंग नहीं, इस पर सोने वाले की तो वही हालत होगी, जो घी भरे कनस्तर में छोड़ देने पर कटोरी की होती है। इस पर जो सोयेगा, वह कटोरी की तरह नीचे चला जायेगा।" राजेन्द्र बाबू ने अपने लिए लकड़ी का तख्त बनवाया। वे जब तक राष्ट्रपति रहे, लकड़ी के तख्त पर ही शयन किया करते थे।

राजेन्द्र बाबू का एक पुराना नौकर था। उसका नाम तुलसी था। वह काम-काज में तो होशियार था, पर स्वभाव से लापर-

साह था। यद्यपि वह राजेन्द्र बाबू की सेवा बड़े प्रेम से किया करता था, फिर भी कभी-कभी उससे लापरवाही हो ही जाती थी। राजेन्द्र बाबू उसकी लापरवाही से कभी उस पर नाराज न होते थे। क्योंकि न तो वे अपने को तुलसी का स्वामी और न तुलसी को अपना सेवक मानते थे।

एक दिन तुलसी राजेन्द्र बाबू की मेज साफ कर रहा था। मेज पर राजेन्द्र बाबू का हाथी-दाँत का बना हुआ एक फाउन्टेन पेन रखा था। राजेन्द्र बाबू को यह कलम बड़ा प्रिय था। वे सदा उसी से काम किया करते थे। वह उन्हें कहीं से उपहार के रूप में प्राप्त हुआ था।

तुलसी ने मेज साफ करते हुए, अपनी लापरवाही से उस कलम को नीचे गिरा दिया। कलम टूट गया। कलम टूटने से आस-पास स्याही फैल गई, फलस्वरूप फर्श पर बिछा हुआ कालीन भी खराब हो गया। राजेन्द्र बाबू जब काम करने के लिए अपने कमरे में गए, तो कालीन पर फैली हुई स्याही को देखकर सब कुछ समझ गए। कलम भी टूटा हुआ था, जो मेज पर ही उन्हें मिला। उन्होंने तुलसी को बुलाया। तुलसी को डाँट-फटकार तो कुछ न की, पर उसे अपनी सेवा से अलग करके राष्ट्रपति-भवन में ही किसी दूसरे काम में लगा लिया।

इसी समय बहुत-से विदेशी अतिथि, और मिलने वाले आ गए। राजेन्द्र बाबू एक-एक करके सब से मिलने लगे। पर सहसा उन्हें तुलसी को अपनी सेवा से अलग करने की बात याद आ गई। जब बात याद आ गई, तो वह रह-रहकर उनके हृदय में कचोट पैदा करने लगी। वे सोचने लगे, "उन्होंने आज तुलसी के साथ जो व्यवहार किया है, वह उनके अनुरूप नहीं है।" राजेन्द्र

बाबू किसी प्रकार मन दबाकर मेल-मिलाप की रस्म पूरी करते रहे, मुलाकातें समाप्त होते ही उन्होंने शीघ्र ही अपने सचिव से कहा, "तुलसी को बुलाओ।"

तुलसी आया। वह डरा हुआ था, घबड़ाया हुआ था। मन ही मन सोच रहा था, न जाने अब उसे कौनसी सजा मिलेगी ? पर वहाँ तो बात ही कुछ दूसरी थी। तुलसी के आते ही राजेन्द्र बाबू हाथ जोड़कर उसके सामने खड़े हो गए, अत्यंत दीन-भाव से बोले—"तुलसी तुम मुझे माफ कर दो।"

तुलसी की तो हक्की-बक्की भूल गई। भारत के राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद उसके सामने हाथ-जोड़ कर खड़े थे। वह उत्तर दे तो क्या उत्तर दे ? कहे तो क्या कहे—किन शब्दों में कहे ? पसीने से लथ-पथ हो गया। राजेन्द्र बाबू ने फिर अपने वही शब्द दोहराए—'तुलसी, माफ कर दो।' तुलसी अश्रु-नयन राजेन्द्र बाबू के पैरों पर गिर पड़ा। राजेन्द्र बाबू ने बड़े स्नेह से उसे उठाया। वह फिर अपना काम करने लगा। राजेन्द्र बाबू को प्रसन्नता हुई, बहुत बड़ी प्रसन्नता हुई।

राजेन्द्र बाबू अपने दिल्ली-निवास के दिनों में प्रायः पिलानी जाया करते थे। पिलानी में किसी तरह उनकी भेंट एक कुम्हार से हुई, जिसका नाम शंकरिया था। राजेन्द्र बाबू जब राष्ट्रपति हुए, तो उन्होंने शंकरिया को अपने पास बुला लिया। इसका कारण यह काम था कि वे शंकरिया के काम से उसपर बहुत प्रसन्न रहते थे।

शंकरिया कुछ दिनों तक राष्ट्रपति भवन में रहा; उसके बाद फिर पिलानी चला गया, अपने पुराने काम-काज में लग गया। एक बार राजेन्द्र बाबू पिलानी गए। उन्होंने अपने सेवकों

को आज्ञा दी कि वे शंकरिया के घर जाकर देखें कि वह क्या करता है, कैसा है ? वे उससे यह भी कहें कि मैं उससे मिलना चाहता हूँ ।' राजेन्द्र बाबू के सेवकों ने शंकरिया का हाल-चाल लेकर उन्हें सूचित किया कि शंकरिया अपने काम-काज में लगा हुआ है, गधों पर इधर-उधर मिट्टी ढोता रहता है, और उनकी देख-रेख में लगा रहता है। इस बात को सुनकर राजेन्द्र बाबू जोर से हँस पड़े।

शंकरिया जब उनसे मिलने के लिए पहुँचा, तो उन्होंने उलाहना देते हुए उससे कहा—"अरे शंकरिया, तूने तो मेरी गधों के बराबर भी कदर नहीं की।"

राजेन्द्र बाबू इसी प्रकार अपने राष्ट्रपति जीवन में भी अपने हृदय की मिठास से छोटे-बड़े, गरीब-अमीर, नीच-ऊँच सबको आनन्दित करते रहे। जो भी उनसे मिला, जो भी उनके पास गया, वह उनकी सरलता, उसकी निष्कपटता, और उनकी निरभिमानता पर मुग्ध हो गया। इंगलैण्ड की रानी एलिजाबेथ १६६१ ई० में कुछ दिनों तक अपने पति के साथ राजेन्द्र बाबू के यहाँ मेहमान के रूप में रहीं। वे उनकी सुजनता और सरलता पर मोहित हो उठीं। उन्होंने उनकी सरलता की चर्चा करते हुए एक स्थान पर लिखा है—"डा० राजेन्द्र प्रसाद ने प्रथम राष्ट्रपति के रूप में बड़ी योग्यता के साथ अपने दायित्व को निभाया। उन्हें भारत की जनता का अनन्त प्रेम प्राप्त रहा। सन् १६६२ में मैं कुछ दिन अपने पति के साथ उनकी अतिथि रही। इस समय भी मुझे उनका हार्दिक आतिथ्य स्मरण हो रहा है।"

राजेन्द्र बाबू १६६२ ई० के मई महीने में अवकाश ग्रहण करके पटना चले गए। वे पटना में सदाकत आश्रम में रहते थे।

सदाकत आश्रम में ही, १९६३ ई० की २८वीं फरवरी को वे स्वर्ग-प्रयाण कर गए। वे अपनी एक ऐसी याद छोड़ गए हैं, जिसे भारत के लोग कभी न भूलेंगे—कभी न भूलेंगे !!

प्रथम प्रधानमंत्री श्री नेहरू

भारत में कौन ऐसा है, जो श्री जवाहरलाल नेहरू के नाम को नहीं जानता ? जिस प्रकार 'राम' और 'कृष्ण' का नाम भारत में एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक फैला हुआ है, उसी प्रकार श्री नेहरू का नाम भी घर-घर में, कोने-कोने में व्याप्त है। बूढ़ा, बच्चा, जवान, स्त्री, पुरुष, गरीब, अमीर, नीच, ऊँच हर एक श्री नेहरू के नाम से परिचित है। केवल परिचित ही नहीं, वह हृदय से उनका आदर करता है, उनके प्रति श्रद्धा की अंजलियाँ अर्पित करता है।

इसका एक कारण है,—बहुत बड़ा कारण है। श्री नेह
लगभग तीस-पैंतीस वर्षों तक दूसरों के लिए—देश के लिए कां
की राह पर चलते रहे। उन्होंने दूसरों के लिए—अपने प्यारे दे
के लिए अपने सारे ऐशोआराम छोड़ दिये, घर-द्वार तज दिय
जेलों में रहे, भाँति-भाँति के कष्ट उठाये, और उन लोगों
झिड़कियाँ बर्दाश्त कीं, जो उनके सामने हाथ बाँधकर खड़े रहने
योग्य भी नहीं थे। श्री नेहरू ने अपने 'तप' और 'त्याग' का
अनूठा दृष्टांत उपस्थित किया, उसके बदले में भारत की जनता उ
जो 'आदर', और 'श्रद्धा' देती है, उसे कम ही कहा जायगा। क्यों
भारतीय जनता आज जो खुली साँस ले रही है, आज जो संस
के मैदान में सिर उठाकर चल रही है, वह श्री नेहरू की बिलक
'देन' नहीं तो, उसमें उनका बहुत कुछ महत्वपूर्ण योग है। सदि
बीत जायेंगी, युग गुजर जायेंगे, पर भारत के लोग श्री नेहरू
कभी न भूलेंगे। भारत के साथ—भारत की स्वतन्त्रता के स
श्री नेहरू का नाम सदा-सदा के लिए जुड़ गया है।

श्री नेहरू का जन्म प्रयाग में एक बहुत बड़े अमीर के
में हुआ था। उनके पिता पंडित मोतीलाल नेहरू बहुत बड़े वक
थे। उनके पास सब कुछ था। नाम था, दौलत थी, विश
भवन था, नौकर-चाकर आदि सब कुछ था। श्री नेहरू का पाल
पोषण सुखों और विलासों की ही गोद में हुआ। कहा जाता है
जब वे छोटे थे, तो उनके लिए अंग्रेज दाइयाँ नियत थीं।

अंगरेज दाइयाँ नियत थीं, या नहीं, पर यह तो सच है
श्री नेहरू जब कुछ बड़े हुए, तो उन्हें एक अंगरेज शिक्षक पढ़
करते थे। उन शिक्षक महोदय का नाम मिस्टर ब्रुक्स था। ब्रु
महोदय थे तो अंगरेज, पर बड़े ऊँचे विचार के थे। वे तड़क-भ

से दूर, सादा जीवन व्यतीत करते थे। कहा जाता है कि बहुत से ऊँचे गुणों का बीजारोपण श्री नेहरू के हृदय में ब्रुक्स महोदय ने ही किया था।

श्री नेहरू बाल्यावस्था में ही 'समाजवादी' थे। वे यह तो नहीं जानते थे कि 'समाजवाद' क्या होता है, पर जब वे किसी के पास एक ही तरह की अधिक चीजें देखते थे, तो उनके मन में यह प्रश्न पैदा हो उठता था कि इस आदमी के पास एक से अधिक चीजें क्यों हैं ?

एक दिन की बात है, बालक श्री नेहरू की दृष्टि पंडित मोतीलाल नेहरू जी की टेबल पर पड़ी। एक नहीं, दो-दो फाउन्टेनपेन टेबल की शोभा बढ़ा रहे थे।

बस फिर क्या था ? बालक श्री नेहरू के मन में विचार पैदा हुआ कि पिता जी को काम करने के लिए एक फाउन्टेनपेन चाहिए, पर यहाँ तो दो हैं—क्यों, किस लिए ?

उन्होंने चट एक फाउन्टेनपेन उठा लिया। उसे अपनी जेब में डाल लिया।

कुछ देर के बाद फाउन्टेनपेन की खोज होने लगी। किताबों में, अलमारी में, दराज में, पलंग पर ! पर कहीं फाउन्टेनपेन का पता न लगा। पंडित मोतीलाल जी रह-रहकर आग-बबूला हो रहे थे। कभी नौकरों पर, कभी घरवालों पर। सबके सब परेशान। किसी को क्या पता कि फाउन्टेनपेन 'नन्हे' नेहरू की जेब में विद्यमान है।

आखिर, सब का ध्यान बालक जवाहर की सूरत पर गया। गुम-सुम, कभी-कभी लोगों की परेशानी को देखकर मुसकुरा भी दिया करते थे।

बचने की बहुत कोशिश की बालक नेहरू ने, पर पकड़े गये। पूछ-ताछ होने लगी। पर बताने क्यों लगे! लगे हीले-हवाले कराने। पर पता चल ही गया। फाउन्टेनपेन जेब से निकाला गया। पंडित मोतीलाल जी के सामने पेश हुए। पंडित मोतीलाल जी ने इसके लिए उन्हें काफी सजा दी थी। इतनी सजा दी थी कि चोट पर क्रीम लगाने की आवश्यकता पड़ी थी।

बाल्यावस्था में श्री नेहरू के मन में जो विचार पैदा हुआ था कि एक मनुष्य के पास एक तरह की एक ही चीज होनी चाहिए। वह बड़े होने पर विकसित हुआ। उनका वही विचार तो उनके समाजवाद के रूप में हमारे सामने उपस्थित हुआ है।

श्री नेहरू जब कुछ बड़े हुए तो पढ़ने के लिए लन्दन चले गए। लन्दन में उन्होंने दो स्कूलों में शिक्षा पाई—हैरो नामक पब्लिक स्कूल में और कैम्ब्रिज के ट्रिनटी कॉलेज में। श्री नेहरू अंगरेज बालकों, विद्यार्थियों और प्रोफ़ेसरों से कभी न दबे। उन्होंने सदा खुलकर बात की, बड़ी निर्भीकता के साथ अपनी बात कही। उनकी निर्भीकता—उनकी साहसिकता पर कभी-कभी अंगरेज प्रोफेसरों को भी आश्चर्य में पड़ जाना पड़ता था।

बात उन दिनों की है, जब श्री नेहरू ट्रिनटी कालेज में पढ़ रहे थे। एक दिन कक्षा चल रही थी। प्रोफेसर राजनीति पढ़ा रहे थे। उन्होंने इसी सिलसिले में लड़कों को एक प्रश्न पूछा। प्रश्न लिबरल पार्टी के सम्बन्ध में था, जिसकी उस समय इंग्लैंड में सरकार थी।

प्रश्न सुनकर सभी अंगरेज लड़के प्रोफेसर का मुँह देखने लगे। किसी के गले से आवाज तक न निकली।

पर श्री नेहरू ऐसे लड़कों में नहीं थे। वे उठकर खड़े हुए, प्रोफेसर के प्रश्न के उत्तर में लिबरल पार्टी पर व्याख्यान देने लगे।

श्री नेहरू के व्याख्यान को सुनकर अंगरेज लड़के ही नहीं, स्वयं प्रोफेसर भी दंग रह गए। उन्होंने इसके लिए विद्यार्थी श्री नेहरू की भूरि-भूरि प्रशंसा की। उन्हें क्या पता था कि आज जो भारतीय विद्यार्थी उनकी कक्षा में व्याख्यान दे रहा है, वह एक दिन संसार की राजनीति का गुरु बनेगा।

श्री नेहरू १९१२ ई० में बैरिस्टरी की परीक्षा पास करके भारत लौटे। वे अपने पिता के साथ वकालत करने लगे। उन्होंने ज्यों-त्यों करके आठ वर्ष तक वकालत की। १९१६ ई० में उनका विवाह कमला जी के साथ हो गया। बड़े सुख और आराम का जीवन था। पर उनका मन वकालत में बिल्कुल न लगता था। वे धीरे-धीरे राजनीति की ओर खिंचते जा रहे थे। अंग्रेजों के अत्याचार रह-रहकर उनके मन में जोश पैदा करते थे। किसानों और मजदूरों की गरीबी को देखकर उनका मन मथ उठता था। वे उनके लिए रह-रह कर काम करने के लिए तैयार हो उठते थे, पर पंडित मोतीलाल नेहरू उन्हें दाब दिया करते थे। वे चाहते थे कि श्री नेहरू भी उन्हीं की भांति वकालत करें। पर यह कैसे हो सकता था? क्योंकि उनका जन्म तो धन पैदा करने के लिए नहीं, भारत की दासता की बेड़ियों को काटने के लिए हुआ था।

यों तो श्री नेहरू १९१६ ई० में ही गाँधी जी के सम्पर्क में आ गए थे, पर उन्होंने मुख्य रूप से १९२१ ई० से देश की स्वतंत्रता की लड़ाई में भाग लेना आरम्भ किया। १९२१ ई० से वे अपना सुख-ऐश छोड़कर लड़ाई के मैदान में उतर पड़े। वे मुलायम विदेशी कपड़ों को छोड़कर खादी पहनने लगे, चर्खा कातने लगे।

गाँव-गाँव घूमने लगे, धूप-शीत की चिन्ता किए बिना पैदल सफर करने लगे। इस सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं अपनी एक पुस्तक में लिखा है—

'जून का महीना था, जिसमें सबसे ज्यादा गर्मी पड़ा करती है। वारिश के पहले की तपिश थी। सूरज की तेजी शरीर को झुलसाये देती थी, आंखों को अंधा बनाये देती थी।

'मुझे धूप में चलने की विल्कुल आदत न थी। इंग्लैण्ड से लौटने पर हर साल गर्मियों में पहाड़ चला जाया करता था। लेकिन इस बार मै खुली धूप में घूमता था। धूप से वचने के लिए सिर पर हैट भी न थी, सिर्फ छोटा-सा तौलिया सिर पर लपेट लिया था।

"दूसरी जरूरी बातों में इतना लीन था कि धूप का कुछ ख्याल ही न रहा। इलाहाबाद लौटने पर जब मैने देखा तो मेरे चेहरे का रंग पहले से और भी अधिक पक्का हो गया था।"

श्री नेहरू जब भारत की स्वतंत्रता की लड़ाई के मैदान में उतरे, तो उनके उतरने के साथ ही साथ उनका पूरा कुटुम्ब भी लड़ाई के मैदान में कूद पड़ा। पंडित मोतीलाल नेहरू, स्वरूप रानी नेहरू, कमला नेहरू, पं० विजय लक्ष्मी और कृष्णा नेहरू आदि सभी गाँधी जी के चरण-चिह्नों पर चलकर, कांग्रेस के कार्यो में जुट गए, स्वतंत्रता के आन्दोलनों में भाग लेने लगे। 'आनन्द भवन' स्वतंत्रता के लिये लड़ी जाने वाली लड़ाइयों का केन्द्र बन गया। देश के बड़े-बड़े नेता आनन्द भवन में आने-जाने लगे। स्वयं महात्मा गांधी भी जब कभी प्रयाग आते थे, आनन्द भवन में ही ठहरा करते थे।

१९२१ ई० से श्री नेहरू और उनके कुटुम्ब ने देश की स्वतंत्रता के लिये बड़ा त्याग करना शुरू किया, उसका सिलसिला

१९४१ ई० तक जारी रहा । इस बीच में आनन्द भवन में कितनी बार तलाशियाँ हुईं, कितनी बार उनके कुटुम्ब के लोग गिरफ्तार करके जेल में पहुँचाये गये और कितनी बार पुलिस आनन्द भवन से सामान उठाकर ले गई—यह तो एक लम्बी कहानी है । यदि इस लम्बी कहानी को ठीक-ठीक लिखा जाय, तो उसकी अलग ही एक स्वतंत्र पुस्तक बनेगी । अतः उसे यहीं छोड़कर, श्री नेहरू के ही जीवन की झाँकियों को देखना चाहिये । क्योंकि यहाँ श्री नेहरू के जीवन की झाँकियों को देखना ही अपना मुख्य ध्येय है ।

श्री नेहरू की जेल-यात्रा १९२२ से आरम्भ हुई । १९२१ ई० से लेकर १९४२ तक ये बराबर जेल की यात्राएँ करते रहे । उन्हें कई बार लम्बी-लम्बी सजाएँ भी दी गयीं । जेलों में उन्होंने बड़े-बड़े कष्ट सहन किए । एक बार लखनऊ में उन्हें पुलिस के डंडे भी सहने पड़े । इस बीच उन्हें बड़े-बड़े पारिवारिक संकट भी झेलने पड़े । उनके माता-पिता का स्वर्गवास हो गया, उनकी प्रिय जीवन-संगिनी कमला जी ने भी उनका साथ छोड़ दिया, पर फिर भी श्री नेहरू पस्त-हिम्मत न हुए, वे जिस साहस और उमंग के साथ देश की स्वतंत्रता की लड़ाई के मैदान में उतरे थे, उसी साहस और उमंग के साथ, कष्टों को सहन करते हुए स्वतंत्रता के मार्ग पर आगे बढ़ते ही गए ।

श्री नेहरू के जीवन की, संघर्ष के दिनों की कई एक ऐसी कहानियाँ और घटनाएँ मिलती हैं, जिनसे उनके साहस, कष्ट-सहन, देश-प्रेम और उदारता का बहुत ही सुन्दर चित्र बनता है । सुनो, तुम्हें उन कहानियों को सुनाएँ—

श्री नेहरू उन दिनों लखनऊ की जेल में बंद थे—असहयोग की लड़ाई में गिरफ्तार होकर, लखनऊ में वे अपनी सजा काट रहे थे ।

जेल की सेहन में खेत थे जिसमें साग-सब्जियाँ उगाई जाती
ीं। पास ही एक कुँआ भी था, जिसके पानी से खेतों को सिंचाई
ो जाती थी।

नेहरू जी रात में तो अखबार और किताबें पढ़ा करते थे,
र दिन में प्रायः उन्हें खेतों की सिंचाई में लगाया जाता था।
जेल के किसी साथी को अपना जोड़ीदार बना लेते थे, और
र उसके साथ मिलकर, बैलों की तरह चमड़े के बहुत बड़े
ल से पानी खींचते थे।

उन्हें इस काम में कष्ट अवश्य होता था, पर जब वे जेल
दूसरे के कष्टों और जोश को देखते थे, तब उन्हें अपना कष्ट
त जाता था।

एक युवक लड़के के कष्ट और उसके जोश का तो उनके
य पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा था। इतना प्रभाव पड़ा था
वह लड़का उनकी याद का एक अंश-सा बन गया था।

उस लड़के का नाम आज़ाद था। अवस्था रही होगी पन्द्रह
लह वर्ष की। उसे भी असहयोग की लड़ाई में जेल की सजा
गई थी, नेहरू जी के साथ ही साथ वह भी जेल में बंद था।

पर वह बड़ा जोशीला था। न तो जेल का कोई कानून
ता था, और न कायदा। जब देखो, 'गांधी जी की जय।'
धी जी की जय।'

आखिर, एक दिन उसे बेंतों की सज़ा दी गई। उसे नंगा
के एक टिकटी से बाँध दिया गया, और फिर लगे उसकी
पर बेंत पड़ने। उसकी पीठ पर जब बेंत पड़ते थे, तो बेंत
के साथ ही साथ उसकी पीठ की चमड़ी भी उधड़ जाती
पर तो भी वह लड़का जोर से 'गांधी जी की जय' बोलता
वह तब तक 'गांधी जी की जय' बोलता रहा, जब तक
वह पूरी तरह बेहोश नहीं हो गया।

यही लड़का आगे चलकर 'चन्द्रशेखर आज़ाद' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसके कष्ट, उसके जोश और उसकी वीरता का नेहरू जी के हृदय पर बहुत प्रभाव पड़ा और उन्हें लगा कि उन्हें जो कष्ट दिया जा रहा है, यह आज़ाद के कष्टों के मुकाबले में कुछ नहीं है ! कुछ नहीं है !!

एक बार श्री नेहरू जी के हाथों में हथकड़ी डाल कर उन्हें पैदल ही शहर से दूर स्टेशन ले जाया गया था। बात १६२४-२५ की है। अंग्रेज़ी सरकार ने नाभा के महाराज को गद्दी से उतार दिया था, और इस बात को लेकर सिखों ने बहुत बड़ा आन्दोलन आरम्भ कर दिया था।

'जैतू' में रोज ही धर-पकड़ होती थी, रोज़ ही लाठी-डंडे चलते थे, और रोज ही गोलियों की वर्षा भी होती थी। कितने ही लोग पकड़े गए थे, कितने ही लोग जेलों में सज़ा काट रहे थे और कितने ही लोग ऐसे थे, जो पकड़े जाने के लिये तैयार बैठे थे।

श्री नेहरू नाभा की खबरों को, इलाहाबाद में बैठे-बैठे बड़े ध्यान से पढ़ा करते थे। नाभा में घटने वाली अत्याचारों की कहानियाँ रह-रह कर उन्हें व्याकुल बना रही थीं। उनका मन रह-रह कर नाभा की ओर दौड़ पड़ता था, पर वे विवश थे। कांग्रेस की अनुमति के बिना वे नाभा कैसे जा सकते थे।

इन्हीं दिनों उन्हें कांग्रेस के एक काम से दिल्ली जाना पड़ा। उनके साथ श्री सन्थानम् जी भी थे।

दिल्ली में श्री नेहरू जी के मन में विचार पैदा हुआ कि, जब इतनी दूर आये हैं, तब क्यों न नाभा के नाटक को भी देख लें !

बस, फिर तो श्री नेहरू जी सन्त्रानम् को साथ लेकर नाभा के लिए चल पड़े। 'जैतू' की सीमा के भीतर दाखिल ही हुए थे कि उन्हें हुक्मनामा मिला—'उल्टे पाँव लौट जाओ, नहीं तो गिरफ्तार कर लिये जाओगे।'

पर नेहरू जी गिरफ्तारी से कब डरने वाले थे। गिरफ्तारी का नाम सुनकर नेहरू जी का जोश उबल पड़ा। उन्होंने कहा—'यह कैसे हो सकता है! क्योंकि मैं यहाँ कुछ करने के लिए नहीं, केवल देखने के लिए आया हूँ।'

पर हुआ वही, जो उन दिनों होता था। नेहरू जी और सन्त्रानम्—दोनों ही पकड़ लिये गए, हवालात में बन्द कर दिये गए।

शाम को उन्हें हवालात से बाहर निकाला गया, क्योंकि उन्हें स्टेशन ले जाना था। नेहरूजी और सन्त्रानम्—दोनों के हाथों में एक ही हथकड़ी डाल दी गई। एक कांस्टेबिल हथकड़ी में लगी जंजीर को हाथ में पकड़ कर, सरे बाज़ार स्टेशन की ओर चल पड़ा।

ज़रा तुम कल्पना करो तो उस दृश्य का! नेहरू और सन्त्रानम्—दोनों के हाथों में एक ही हथकड़ी थी। एक ही हथकड़ी में बँधे हुए दोनों को सरे बाज़ार स्टेशन ले जाया जा रहा था। जो भी इस दृश्य को देखता था, मन मसोस कर रह जाता था।

पर जो देश की स्वतन्त्रता की राह पर चलते हैं, वे चाहे कितने ही बड़े नेता क्यों न हों, उन्हें संकटों और अपमानों की आग में जलना ही पड़ता है। श्री नेहरू को भी, १९४७ ई० में पन्द्रह अगस्त तक, जब तक भारत पूर्ण स्वतन्त्र नहीं हुआ, भाँति-भाँति के कष्ट सहने पड़े, तरह-तरह के अपमानों की आग में जलना पड़ा।

१९२८ ई० के दिन थे। साइमन कमीशन के बायकाट को लेकर भारत के कोने-कोने में हलचल पैदा हो उठी थी। हर जगह सभाएँ हो रही थीं, जुलूस निकल रहे थे और लोग लगा रहे थे नारा—'साइमन लौट जाओ, साइमन लौट जाओ !!'

लखनऊ में भी साइमन कमीशन आ रहा था और लखनऊ में भी उसके बायकाट के लिये बड़ी-बड़ी तैयारियाँ हो रही थीं।

कई दिन पहले से ही जुलूस निकल रहे थे, सभाएँ हो रही थीं और लग रहे थे बड़े-बड़े नारे। एक दिन पहले श्री नेहरू जी भी लखनऊ जा पहुँचे। इसी दिन वह जुलूस निकलने वाला था, जो अगले दिन वाले बड़े जुलूस का रिहर्सल था।

पर सरकार ने रोक लगा दी। ऐलान हुआ कि यदि सोलह आदमियों से अधिक आदमी कहीं इकट्ठे होंगे तो सबके सब पकड़ लिये जायेंगे।

बस, नेहरू जी को सूझ ही तो गई। उन्होंने लोगों को सलाह दी कि, सोलह-सोलह आदमियों की टुकड़ी बनाओ, और अलग-अलग रास्तों से उस जगह पहुँचो, जहाँ सभा होने को है।

नेहरू जी स्वयं भी सोलह आदमियों की एक टुकड़ी के साथ आगे-आगे चले। अभी कुछ ही दूर आगे बढ़े होंगे कि सिपाहियों और घुड़सवारों के एक दल ने आकर घेर लिया। न कुछ कहना, न कुछ सुनना, घुड़सवारों ने अपने-अपने घोड़े स्वयंसेवकों की क़तार में डाल दिये।

इतना ही नहीं, डण्डे भी चलने लगे। डण्डे पीठ पर पड़ेंगे, या सिर पर, इसका ज़रा भी ख्याल नहीं। स्वयंसेवक तितर-[illegible] । कोई दुकान में घुस गया तो कोई किनारे पर खड़ा [illegible] किसी को मार-मारकर गिरा दिया गया तो कोई [illegible] ले जाया गया।

नेहरूजी स्तब्ध, मौन खड़े-खड़े इस काण्ड को देख रहे थे। सड़क के बीच में वही अकेले थे, जो खड़े थे। उनके मन में रह-रह कर बात पैदा हो रही थी कि क्या उन्हें भी वहाँ से हट जाना चाहिए।

हो सकता है कि नेहरू जी भी कुछ क्षणों में वहाँ से हट जाते क्योंकि उस सड़क पर उन्हें छोड़ कर कोई न था, पर इसी-समय एक घुड़सवार घोड़ा दौड़ाता और डण्डा घुमाता हुआ उनकी ओर बढ़ा।

नेहरू जी उसे देखते ही तड़क कर बोल उठे—'लगाओ।'

और उसने डण्डे चला दिए। एक-दो, नेहरू जी का शरीर थर-थर काँपने लगा। उन्हें लगा कि वे गश खाकर जमीन पर गिर पड़ेंगे, पर फिर भी वे अपनी जगह पर जमे रहे। कहा नहीं जा सकता कि घुड़सवार के मन में शर्म आ गई या ईश्वर ने उसका हाथ पकड़ लिया, उसने फिर नेहरू जी पर कोई डण्डा न चलाया। स्वयं-सेवक चारों ओर से उमड़ पड़े। जिसे जहाँ भी खबर मिली, वह दौड़कर नेहरू जी के पास जा पहुँचा। आकाश नारों से गूँज उठा—'नेहरू जी जिन्दाबाद, भारत माता जिन्दाबाद।'

पर अभी क्या ? दूसरे दिन जब बड़ा जुलूस निकला, तो खूब डण्डे चले। उस दिन तो नेहरू जी को कई डण्डे सहने पड़े। उन्होंने बड़ी वीरता से पुलिस के डण्डे सह लिए, पर उफ़ तक न की।

सवेरे का समय था। लखनऊ स्टेशन पर साइमन अपने कमीशन के साथ पहुँच रहा था। वही साइमन आ रहा था,

जिसके आगमन पर लाहौर में लाठियों की वर्षा हुई थी और चोट खाकर भारत के नर-रतन लाला लाजपत राय शहीद हो गए थे।

लखनऊ-स्टेशन का मैदान आदमियों से खचाखच भरा था। एक ओर पुलिस, घुड़सवार और फौज के आदमी थे और दूसरी ओर थे वे वालंटियर जो साइमन का बायकाट करने के लिए इकट्ठे हुए थे, और कतार बाँधकर खड़े थे।

नेहरू जी भी उन्हीं के साथ आगे खड़े थे। उनके साथ गोविन्दवल्लभ पंत आदि और कई बड़े-बड़े नेता थे जो जुलूस के आगे खड़े थे।

चारों ओर दर्शक, तमाशबीन ! पर उन दर्शकों के दिलों में भी जोश था, साइमन के लिए घृणा का भाव था। रह-रह कर नारा लग रहा था—'भारत माता जिन्दाबाद, नेहरू जी जिन्दाबाद'।

सहसा घुड़सवार टूट पड़े। डण्डे चलने लगे। देखते-ही-देखते कितनों के हाथ-पैर टूट गए, कितने जमीन पर गिर कर हाय-हाय करने लगे, और कितनों के सिरों से खून के फुहारे छूट गए। पर फिर भी नारा लगता ही रहा—'नेहरू जी जिन्दाबाद, भारत माता जिन्दाबाद।'

अरे यह क्या ! वे घुड़-सवार तो अब उस ओर भी तेजी से बढ़े, जहाँ नेहरू जी वालंटियरों की कतार बनाकर खड़े थे। देखते-ही-देखते घुड़सवार उस कतार से जाकर टकरा गए। पर मजाल क्या कि कतार जरा भी टस से मस हुई हो। घोड़ों के पैर उठ गए, और वे पिछले पैरों के बल खड़े हो गए। ऐसा लगा मानों कतार की दृढ़ता देखकर, घोड़े भी पनाह माँग रहे हों।

घोड़े तो आगे न बढ़ सके, पर सवारों के डंडे चलने लगे। पैदल पुलिस भी टूट पड़ी। हरएक तरफ से लाठियों की वर्षा और हर एक तरफ से डंडों की चोट। वीर जवाहर की पीठ पर कितने डंडे पड़े कुछ कहा नहीं जा सकता। उनकी आँखों के सामने अंधेरा छा गया। रह-रह कर धैर्य छूटा जा रहा था, पर भीतर की मर्दानगी रह-रह कर रगों में बिजली पैदा कर रही थी। वे जोश में सोच उठते, किसी अफसर को घोड़े से गिराकर उसके घोड़े पर चढ़ जाऊं, पर उन्हें यह ख्याल आता कि उन्होंने इस लड़ाई में किसी को चोट न पहुँचाने की शपथ ली है, यह सोचकर उनका यह ख्याल दब जाता। वे चुपचाप डडों की मार सहते हुए उस घड़ी की प्रतीक्षा करने लगे, जब वे डंडों की चोट से आहत होकर जमीन पर पड़े हुए होंगे।

पर इसी समय कुछ लोग आँधी की तरह झुके और पीछे से उन्हें पकड़ कर ऊपर उठा लिया। नेहरू जी उन पर बहुत बिगड़े, बहुत झुझलाए। पर वे लोग नेहरू जी को कैसे छोड़ सकते थे! क्योंकि उनका जीवन उन डंडों की. चोट के लिए नहीं, उन करोड़ों भारतीयों के लिए था, जो अपनी पलकों के भीतर तरह-तरह की अभिलाषाएँ छिपाए हुए उनका रास्ता देख रहे थे।

नेहरू जी बहुत बड़े नेता थे, बहुत बड़े अमीर के घर में उनका जन्म हुआ था, पर वे किसानों और गरीबों से बड़ा प्रेम करते थे। सच बात तो यह है कि वे भारत के किसानों और गरीबों का दुख दूर करने के लिए ही संसार में आये थे। किसान और गरीब उन्हें बहुत प्रिय लगते थे। उन्होंने १९५३ ई० में मद्रास का दौरा करते हुए स्वयं एक जगह कहा था—"मैं स्वयं

अपने को एक भिखारी समझता हूँ। पर जब मैं गंदी बस्तियों को देखता हूँ, तो मुझे बड़ा डर लगता है।' इसी प्रकार १९५३ में दिल्ली की एक सभा में किसानों पर बोलते हुए उन्होंने कहा था—'मेरा मन बार-बार गाँवों की ओर दौड़ता है। सबसे बड़ा सवाल यही है कि गाँवों को कैसे उठाया जाय, गाँव वालों को ज्यादा से ज्यादा आराम कैसे पहुँचाया जाय' !

श्री नेहरू जी के जीवन की ऐसी बहुत-सी घटनाएँ और कहानियाँ मिलती हैं, जिनमें उनके समय का किसान प्रेम झलकाता है। १९२० ई० की बात है। नेहरू जी प्रतापगढ़ के किसानों पर होने वाले अत्याचारों की कहानियाँ सुनकर बहुत दुखी थे, प्रतापगढ़ के गाँवों का दौरा कर रहे थे।

एक दिन वे बहुत भूखे थे। उन्होंने एक किसान से कुछ खाना लाने के लिए कहा। किसान बहुत लज्जित हुआ। सोचने लगा कि वह नेहरू जी के लिए खाना लाये तो क्या लाये? क्योंकि उसके घर में गुड़ और तिल को छोड़कर और कोई चीज नहीं थी।

आखिर वह गुड़ और तिल के लड्डू बनाकर लाया। नेहरू जी प्रसन्न हो उठे। उन्होंने उसे इतने चाव से खाया, मानों मोहन भोग खा रहे हों। क्यों न हो! वे किसानों के देवता थे। किसान का दिया हुआ भोग उन्हें मीठा न लगता, तो फिर किसे लगता!

१९४५ ई० की बात है। नेहरू जी बलिया जिले का दौरा कर रहे थे। बलिया जिले में एक गाँव है 'वैरिया'! नेहरू जी को 'वैरिया' में भी जाना था क्योंकि वहाँ एक सभा होने वाली थी।

सुरेमनपुर के रेलवे स्टेशन से 'बैरिया' का ऊबड़-खाबड़ रास्ता ! कच्ची सड़क पर धूल उड़ने के साथ ही साथ ऐसे धक्के लगते थे कि कलेजा हिल जाता था। पर किसानों और गाँवों के प्रेमी नेहरू जी के लिए यह क्या था ? वे तुरन्त एक मरियल से इक्के पर सवार हो गए, और धक्कों के झूले पर झूलते हुए 'बैरिया' गाँव की ओर चल पड़े।

गाँव वालों ने खूब दिल खोलकर स्वागत किया। खाने के लिए पूड़ी बनवाई—बड़े प्रेम से, बड़े चाव से। पर नेहरू जी जब खाने के लिए बैठे, तो पूड़ियों को देखकर खफा हो उठे। बोले—'मुझे पूड़ियाँ नहीं, वह सत्तू चाहिए जो यहाँ का किसान खाता है।'

लोग नेहरू जी की बात सुनकर चकित हो उठे, परस्पर एक-दूसरे का मुँह देखने लगे। उन्हें क्या पता था कि नेहरू जी किसानों के देवता हैं, उन्हें जब तक किसानों का भोग सत्तू न मिलेगा, वे प्रसन्न न होंगे।

बात उन दिनों की है, जब नेहरू जी प्रधान मंत्री थे, और दक्षिण की यात्रा कर रहे थे। एक दिन जब उनकी गाड़ी पांडेचरी स्टेशन पर रुकी, तो उन्होंने देखा, चारों ओर भीड़ ही भीड़ है। रह-रह कर लोग नारा भी लगा रहे थे—भारत माता जिन्दाबाद, नेहरू जी जिन्दाबाद।'

नेहरू जी ने उसी भीड़ में देखा, कितने ही लोग हैं, जो फटे-पुराने कपड़े पहने हुए पीछे खड़े हैं और उचक-उचक कर नेहरू जी को देखने के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। पर ठाट-बाट के लोग उन्हें क्यों आगे बढ़ने देने लगे ?

नेहरू जी तड़प उठे—"मैं यहाँ केवल पुलिस और अफसरों को देखने के लिए नहीं आया हूँ। मुझे हमारी जनता चाहिए—वह जनता, जो हिन्दुस्तान की रीढ़ है।"

नेहरू जी के किसान-प्रेम की चर्चा दिल्ली के क़रीब, लाडपुर के निवासी बूढ़े बिहारी ने सैंकड़ों बार सुनी थी। आखिर, बिहारी के मन में यह साध पैदा हो उठी कि क्यों न उस आदमी का दर्शन किया जाय, जो हिन्दुस्तान के किसानों का सच्चा सखा है।

पर वह आदमी, वह महान् पुरुष तो हिन्दुस्तान का प्रधान-मंत्री है। उसकी कोठी के फाटक पर सन्तरी, पहरेदार! उससे मिलने के लिए तो अच्छी पोशाक चाहिए। इस फटी-पुरानी पोशाक में कौन फाटक के भीतर घुसने देगा?

पर नहीं, चाहे जो हो, पर बूढ़े बिहारी बाबा उस महान् पुरुष का दर्शन किये बिना नहीं रह सकते। बुढ़ापे के दिन हैं, कौन जाने, जीवन के तार कब टूट जायें। फिर तो भीतर की साध भीतर ही रह जाएगी।

बिहारी बाबा ने सुदामा की तरह बाजरे की कुछ बालें लीं, और सूत की एक माला। फिर शरीर के ऊपर एक मैली-सी चादर डालकर चल पड़े नेहरू जी की कोठी की ओर।

संयोग की बात, नेहरू जी अपनी कोठी के बगीचे में टहल रहे थे। बिहारी जी पर जो उनकी दृष्टि पड़ी, तो वे स्वयं चल कर उनके पास जा पहुँचे। ऐसा लगा, मानों बिहारी बाबा से उनकी युग-युगों की पहचान हो।

नेहरू जी ने बिहारी बाबा को अपनी गोद में उठा लिया। उनकी आँखों में आनन्द के आँसू उमड़ आये। उनके मुख से

अपने आप ही फूट पड़ा—"नेहरू जी आप महान् हैं—सचमुच आप बड़े महान् हैं।"

श्री नेहरू अपने महान् गुणों के ही कारण, १९४७ ई० में जब भारत स्वतंत्र हुआ, तो स्वतंत्र भारत के प्रथम प्रधान मंत्री पद पर प्रतिष्ठित हुए। १९५० ई० से लेकर १९६४ ई० के मई महीने तक नेहरू जी भारत के प्रधान मंत्री पद पर आसीन रहे। इस चौदह वर्ष के लम्बे समय में नेहरू जी ने एक समृद्ध-शाली और जागृत देश बनाने का अथक प्रयास किया। पंचवर्षीय योजनाएँ उन्हीं की देन है। उन्होंने पंचवर्षीय योजनाओं के द्वारा भारत को एक हरे-भरे और उन्नतिशील देश के रूप में बदल दिया। किसानों की हालत बहुत कुछ सुधर गई, गांवों के रूप बदल गए, शहरी में उद्योग-धन्धों की बाढ़ सी आ गई। चारों ओर एक नया प्रकाश फैल गया, एक नई जोवन धारा बह उठी। श्री नेहरू भारत में नया प्रकाश फैलाने के प्रयत्न में ही, १९६४ ई० को २७वीं मई को अनन्त निद्रा में सो गए। वे चले गए पर भारत के लिए उनकी इतनी अधिक देन है कि भारत उनकी याद में सदा झुका रहेगा, सदा झुका रहेगा।

नेहरू जी प्रधान मंत्री पद पर प्रतिष्ठित होने पर भी गरीबों-किसानों से उसी प्रकार मिला करते थे, जिस प्रकार वे स्वतंत्रता की लड़ाई के दिनों मिला करते थे। वे अधिक काम में लगे रहने पर भी अपनी जनता को—गरीबों को नहीं भूलते थे। छोटे-छोटे बच्चे भी उन्हें बहुत प्यारे थे। वे छोटे-छोटे बच्चों को देखते ही गुलाब के फूल की तरह खिल उठते थे। बच्चों को प्यार देने में वे यह नहीं देखते थे कि बच्चा कैसा है—गोरा है या काला, खूबसूरत है या बदसूरत, अमीर का है या गरीब का,

वे सभी बच्चों को, सभी तरह के बच्चों को समान रूप से प्यार और स्नेह देते थे।

नेहरू जी के जीवन की कई ऐसी घटनाएँ और कहानियाँ हैं, जिनमें उनके हृदय का यही अकृत्रिम स्नेह देखने को मिलता है। तुम भी पढ़ो उन कहानियों को—

जेठ-वैशाख के दिन थे। कड़ी धूप पड़ रही थी। रह-रह लू भी चल रही थी। नेहरू जी को एक गाँव में श्रमदान देना था।

गाँव वालों का खयाल था कि नेहरू जी न आ सकेंगे। क्योंकि वे प्रधान मंत्री हैं और गर्मी बड़ी तेज़ है।

पर नेहरू जी उस कड़ी धूप में ठीक समय पर गाँव जा पहुँचे। गाँव में एक नाले के पास लोग जमा थे, और नेहरू जी की राह देख रहे थे।

नेहरू जी को देखते ही लोग बोल उठे—'नेहरू जी की जय, भारत माता की जय।'

नेहरू जी मुस्करा उठे।

पर यह क्या, एक किसान ने जब आगे बढ़कर उन्हें फावड़ा दिया, तो फावड़े को देखते ही उनके चेहरे की रंगत बदल गई। वे चट बोल उठे—'यह तो चाँदी का है। मिट्टी खोदने के लिए हमें लोहे का फावड़ा चाहिए। उससे चाहे जितना काम लो, वह टूटेगा नहीं, थकेगा नहीं।'

नेहरू जी का यह कहना था कि उन्हें लोहे का फावड़ा मिल गया, और वे मिट्टी पर फावड़ा चलाने लगे।

जब तक लोग देखते ही रहे, नेहरू जी ने कई फावड़े चला दिए। फिर क्या था! नेहरू जी की जय जयकार के साथ हज़ारों फावड़े चलने लगे।

कुछ लोगों ने आगे बढ़कर नेहरू जी का हाथ पकड़ लिया। कहा—"मुहुर्त के लिए इतना ही काफी है।"

नेहरू जी बोल उठे—'मैं यहाँ मुहुर्त करने नहीं आया हूँ, श्रमदान देने आया हूँ। श्रमदान जो दूँगा, वह दिखावटी नहीं, असली दूँगा।'

सचमुच, नेहरू जी के जीवन में दिखावट थी ही नहीं।

सन् १९६० की बात है। नेहरू जी बाल-कला-प्रदर्शनी का उद्घाटन करने के लिए इन्दौर गए थे। लेकिन जब वे प्रदर्शनी-हाल में दाखिल हुए, तब यह देखकर उनकी भौंहें टेढ़ी हो गईं कि बड़े-बड़े वे लोग तो आगे खड़े हैं, और छोटे-छोटे बच्चे पीछे, बहुत पीछे खड़े हैं।

नेहरू जी कुछ देर तक सोचते रहे, फिर सबको सामने से अलग करते हुए बच्चों के पास पहुँचे। उन्होंने बच्चों के साथ खड़े होकर अपनी फोटो खिचवाई।

चुनाव के दिन थे। नेहरू जी दक्षिण का दौरा कर रहे थे। एक दिन जब वे हवाई जहाज से जा रहे थे, तो हवाई जहाज का पेट्रोल खतम हो गया, उसे लाचारी की हालत में पेट्रोल के लिए गोवा के हवाई अड्डे पर उतरना पड़ा।

किसी को खबर न थी कि, नेहरू जी गोवा के हवाई अड्डे पर आ रहे हैं, फिर भी शहर में खबर फैल ही गई और झुण्ड के झुण्ड लोग उनके स्वागत के लिए हवाई अड्डे पर आ पहुँचे।

स्वागत करने वालों में एक छोटी लड़की भी थी। वह फूलों का एक हार लेकर आगे बढ़ी। नेहरू जी ने उसकी भेंट को बड़े प्रेम से स्वीकार किया।

लड़की ने कागज की एक पुड़िया भी नेहरू जी को दी। गोआनी अफसर, जो वहाँ खड़ा था, बोला—"आप इस कागज की पुड़िया को नहीं ले सकते। मुझे दे दीजिए।"

नेहरू जी क्रोधपूर्वक बोल उठे—"क्यों नहीं ले सकते? यह मेरे लिए भेंट है।"

और उन्होंने अफसर के सामने ही पुड़िया को फाड़कर फेंकते हुए कहा—"जब तक गोवा स्वतंत्र नहीं हो जायगा, मैं नहीं आऊँगा ?"

इसी प्रकार नेहरू जी जहाँ भी गए, उन्होंने किसानों को, गरीबों को, छोटे बच्चों को अपने हृदय का अकृत्रिम स्नेह प्रदान किया। गरीब किसान और बच्चे—सदा नेहरू जी के स्नेह की कहानियों को बड़े प्रेम से पढ़ेंगे, और उनकी याद में अपने हृदय की श्रद्धांजलि चढ़ाते ही रहेंगे, चढ़ाते ही रहेंगे।

द्वितीय राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन्

सिर पर मद्रासी पगड़ी, आँखों पर चश्मा, तेजोदीप्त नेत्र। बड़े-बड़े कान, सौम्य मुख-मंडल—यह हैं डा० राधाकृष्णन्! भारत के दूसरे राष्ट्रपति के रूप में उन्होंने अतुल यश अर्जित किया है। वे राजनीतिज्ञ नहीं हैं—राजनीति के मैदान में उतर कर उन्होंने कभी किसी आंदोलन में भाग नहीं लिया। वे विद्वान् हैं, बहुत बड़े विद्वान् हैं। भारत में ही नहीं, एक दार्शनिक विद्वान् के रूप में वे सारे संसार में आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं।

उन्होंने 'धर्म' और 'दर्शन' पर अंगरेजी में बड़ी महत्वपूर्ण पुस्तकें लिखी हैं। उनकी पुस्तकें विदेशों में भी बड़े आदर से पढ़ी जाती हैं।

डा० राधाकृष्णन् का जन्म-स्थान मद्रास राज्य है। मद्रास से पश्चिम की ओर, लगभग पचास मील दूर एक गाँव है। गाँव का नाम तिरुतली है। धार्मिक लोग 'तिरुतनी' को बड़ा पवित्र मानते हैं। इसी गाँव में एक ब्राह्मण कुटुम्ब रहता था। कुटुम्ब छोटा-सा था, घर में गरीबी थी। ब्राह्मण महोदय एक जमींदार के यहाँ नौकरी करते थे। पर स्वभाव के बड़े मृदुल थे। पक्के वैष्णव थे, राह चलते हुए भी भगवान का नाम लिया करते थे। उन्हीं के समान उनकी धर्मपत्नी भी थी। वे भी सदा पूजा-पाठ और भजन-कीर्तन में लगी रहती थी। पति-पत्नी दोनों ही बड़ी सादगी के साथ जीवन व्यतीत किया करते थे। जो भी कोई उनके घर पहुँच जाता, वे उसका सेवा-सत्कार हृदय खोलकर किया करते थे।

इसी ब्राह्मण कुटुम्ब में १८८८ ई० की पाँचवीं सितम्बर को एक बालक ने जन्म लिया। माता-पिता वैष्णव थे, राधाकृष्ण के अनन्य उपासक थे। अतः उन्होंने अपने नवजात बालक का नाम राधाकृष्णन् रखा। यही राधाकृष्णन् बालक जब बड़ा हुआ तो स्वतन्त्र भारत के द्वितीय राष्ट्रपति के पद पर प्रतिष्ठित हुआ।

बालक राधाकृष्णन् को दिन-रात धार्मिक वातावरण में ही रहना पड़ता था। उनके घर में सदा पूजा-पाठ और धर्म-चर्चा हुआ करती थी। अतः उन्हें जन्म से ही धर्म की शिक्षा मिलने लगी। इसका उनके ऊपर अधिक प्रभाव पड़ा। यों भी कह सकते

कि धर्म और दर्शन के प्रति निष्ठा उन्हें ईश्वर की देन के ही प में प्राप्त हुई है। जब वे छोटे से थे, प्राय: एकांत में बैठे ते थे, बैठकर घंटों सोचा करते थे। न खेल-कूद में भाग ते थे, न दूसरे बालकों की तरह चंचलता ही दिखाते थे। किसी बात करते तो बहुत सकुचाते हुए, बहुत झेंपते हुए। उनके ता-पिता उनके ऐसे स्वभाव को देखकर मन ही मन बहुत तित रहा करते थे।

डा० राधाकृष्णन् की प्रारम्भिक शिक्षा तिरुपती गाँव में । किन्तु इसके पश्चात् उन्हें 'लूथरन' मिशन हाई स्कूल में ती किया गया। चार वर्ष तक उन्होंने 'लूथरन' मिशन हाई ल में शिक्षा प्राप्त की, तत्पश्चात् मद्रास के क्रिश्चियन कालेज भरती हुए। जब वे मद्रास के क्रिश्चियन कालेज में पढ़ने के ए पहुँचे तो उनके सामने एक विचित्र प्रश्न आया। उन्हें लेज में पाँच विषयों में से कुछ विषय लेने थे। वे सोचने लगे, न-कौन-सा विषय लूँ? युवक राधाकृष्णन् चार-पाँच दिनों इसी उधेड़-बुन में पड़े रहे। उन्हें खाना-पीना कुछ भी अच्छा नगता था। वे रात-भर जाग कर इसी उधेड़-बुन में लगे े थे। इन्हीं दिनों युवक राधाकृष्णन् के चाचा ने, उनके कुछ पुस्तकें पढ़ने के लिए भेजीं। युवक राधाकृष्णन् ने जब स्तकें पढ़ीं, तो उनका रास्ता सरल हो गया। उन्होंने उन कों को पढ़ने के बाद उस विषय का चुनाव कर लिया जो ए० में उन्हें लेना था। वह विषय था—बहुत ही कठिन विषय न'। उनके इस चुनाव पर उनके साथियों को ही नहीं, कालेज फेसरों को भी बड़ा आश्चर्य हुआ था।

'लूथरन' मिशन हाई स्कूल और क्रिश्चियन कालेज में पढ़ते

समय कभी-कभी विद्यार्थी राधाकृष्णन् के मन में बड़ी उथल-पुथल हुआ करती थी। ईसाई, अध्यापक और प्रोफेसर कक्षा में प्रायः ऐसी बातें कहा करते थे जो हिन्दू धर्म और 'भारत' को बदनाम करने वाली होती थीं। वे केवल कहते ही नहीं थे बल्कि उन बातों को विद्यार्थियों के हृदय पर अमिट रूप से जमाने के लिए प्रयत्न भी किया करते थे। उधर युवक राधाकृष्णन् के मन में 'हिन्दू धर्म' के प्रति बड़ी निष्ठा थी। उनके माता-पिता वैष्णव थे, उनका पालन-पोषण वैष्णव धर्म के ही वातावरण में हुआ था। इन्हीं दिनों सारे संसार का दौरा करते हुए स्वामी विवेकानन्द मद्रास पहुँचे। स्वामी जी ने मद्रास में 'हिन्दू धर्म' के ऊपर कई भाषण दिए। विद्यार्थी राधाकृष्णन् ने भी स्वामी जी के भाषणों को सुना।

स्वामी जी के भाषणों को सुनने के बाद विद्यार्थी राधाकृष्णन् के मन का द्वन्द शान्त हो गया था। उसमें मिश्नरियों, अध्यापकों और प्रोफेसरों के गलत प्रचार के कारण उनके मन में हिन्दू धर्म के प्रति संदेह के जो बादल उठ रहे थे, वे मिट गए। हिन्दू धर्म के प्रति उनके मन में अनन्य निष्ठा पैदा हो उठी। वे हिन्दू धर्म को संसार का एक श्रेष्ठ धर्म मानकर अपने जीवन की राह पर चलने लगे। इस सम्बन्ध में डॉ० साहब ने स्वयं अपनी एक पुस्तक में लिखा है—

"मेरे लिए यह विश्वास करना कठिन था कि हिन्दू ऋषि मुनि, जिनका जीवन के साथ इतना निकट सम्पर्क था, तथा जो हमारी विशाल संस्कृति के निर्माता थे, वास्तव में धार्मिक नहीं थे। मेरे विचार से तो हमारे देश के गांवों में अशिक्षित लोग तथा गरीब आदमी भी, जो अपने पारिवारिक रीति-रिवाजों से

बँधे हुए थे, और धर्म के नाम पर कुछ रस्म-अदायगी भी कर लेते थे, अथवा कुछ तीज-त्यौहार भी मना लेते थे, धर्म से काफी परिचित थे। इतना ही नहीं, मेरे विचार से तो वे लोग इन आराम-तलब बुद्धिवादी पादरियों की अपेक्षा आत्मा और ईश्वर से कहीं अधिक परिचित थे। इन इसाई पादरियों के लिए परमात्म चाहे बौद्धिक विलास-भर की वस्तु हो, परन्तु हमारे देश के रे अपढ़ एवं गरीब भाई यह बात भली प्रकार जानते हैं कि कोई अलौकिक एवं अदृश्य शक्ति समस्त विश्व में व्याप्त है और विश्व के समस्त कार्यों का संचालन कर रही है।"

विद्यार्थी राधाकृष्णन् ने कालेज में 'दर्शन' विषय लेकर ब परिश्रम और प्रेम से अध्ययन किया। वे ज्यों-ज्यों आगे बढ़ गये, 'दर्शन' के क्षेत्र में उनका 'ज्ञान' निखरता गया। एम० ए की परीक्षा में उन्होंने दर्शन पर एक ऐसा निबंध लिखा कि, उन परीक्षक डा० हीगे को भी, उसे पढ़कर आश्चर्य में पड़ जान पड़ा था। डा० हीगे ने उनके निबंध को पढ़कर, विद्यार्थी राधाकृष्ण के भविष्य पर अपना मत इस प्रकार प्रकट किया था—

"यह विद्यार्थी दर्शन शास्त्र को अच्छी तरह समझता है दार्शनिक समस्याओं में गहरी सूझ-बूझ से काम लेता है। कि उलझन पैदा करने वाले तर्कों को सुलझाने में विद्यार्थी की प्रति प्रशंसनीय है। इसके अतिरिक्त विद्यार्थी को अंग्रेजी भाषा ज्ञान भी है।"

राधाकृष्णन् एम० ए० की परीक्षा पास करने के बाद मद्रास के प्रेसीडेन्सी कालेज में 'दर्शनशास्त्र' के अध्यापक निय

हो गए। इन्हीं दिनों उनका ध्यान रवीन्द्रनाथ टैगोर की कविताओं की ओर आकर्षित हुआ। उन्होंने बड़ी निष्ठा और लगन के साथ रवीन्द्रनाथ टैगोर की कविताएँ पढ़ीं। उनकी कविताओं को पढ़ कर, एक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक का नाम "दि फिलासफी ऑफ रवीन्द्रनाथ टैगोर" है। यद्यपि यह उनकी पहली पुस्तक है, पर जब यह प्रकाशित हुई, तो बड़े-बड़े विद्वानों ने भी उनकी प्रशंसा की। स्वयं रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी उस पुस्तक को पढ़कर कहा था—"यदि ऐसी पुस्तक कोई भी दूसरा लिखने का प्रयास करता, तो मैं समझता हूँ कि वह हरगिज नहीं लिख पाता।"

कुछ दिनों के बाद राधाकृष्णन् मैसूर चले गये। मैसूर विश्वविद्यालय में 'दर्शन' के अध्यापक नियुक्त हुए। मैसूर विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य करते हुए उन्होंने एक दूसरी पुस्तक लिखी। उनकी इस पुस्तक का नाम—"व्रिटेन ऑफ रिलीजन इन कंटेम्परेरी फिलास्फी" है। उनकी इस पुस्तक का देश में ही नहीं, विदेशों में भी बड़ा आदर हुआ। अमेरिका के बड़े-बड़े विद्वानों ने इस पुस्तक की बड़ी सराहना की। अमेरिका के कई अखबारों में इस पुस्तक के ऊपर बड़े-बड़े लेख भी छपे। कई सभाएँ भी की गईं, जिनमें राधाकृष्णन् और उनकी पुस्तक के ऊपर बड़े-बड़े विद्वानों ने व्याख्यान भी दिए। उन दिनों राधाकृष्णन् की अवस्था केवल पचीस वर्ष की थी।

मैसूर के बाद राधाकृष्णन् फिर मद्रास चले गए, मद्रास सरकार के शिक्षा विभाग में बहुत बड़े अधिकारी नियुक्त हुए।

१६२१ ई० में राधाकृष्णन् की नियुक्ति कलकत्ता विश्व[illegible]ालय में हुई। उन दिनों कलकत्ता विश्वविद्यालय के उप[illegible]ति सर आशुतोष मुखर्जी थे। मुखर्जी महोदय ने श्री

ी राधाकृष्णन् को बड़ा आदर और सम्मान प्रदान किया। कलकत्ता विश्वविद्यालय में कार्य करते हुए उन्होंने एक तीसरी पुस्तक लिखी। उनकी इस पुस्तक का नाम 'भारतीय दर्शन का इतिहास' है। इस पुस्तक के प्रकाशित होने पर इंग्लैंड और अमेरिका आदि देशों में हलचल मच गई। क्योंकि इस पुस्तक में भारतीय दर्शन के बारे में ऐसी खोजपूर्ण बातें लिखी गई थीं, जो इंग्लैंड और अमेरिका के विद्वानों के लिए बिल्कुल नई थीं।

१९२६ ई० में कैम्ब्रिज—इंग्लैंड में दुनिया के बड़े-बड़े दार्शनिक विद्वानों का एक सम्मेलन हुआ। श्री राधाकृष्णन् भी कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रतिनिधि के रूप में उस सम्मेलन में सम्मिलित हुए। सम्मेलन में तो राधाकृष्णन् ने भाषण ही दिये तो कई संस्थाओं में भी आमंत्रित होकर व्याख्यान दिये। भारतीय दर्शन पर उनके विचारों को सुनकर अंगरेज जनता और विद्वान् बड़े प्रभावित हुए। उन्होंने उनकी विद्वता की बहुत प्रशंसा की। बड़े-बड़े अखबारों में उनके फोटो छपे, उनकी विद्वता पर प्रशंसात्मक टिप्पणियाँ भी निकलीं।

इंग्लैंड के बाद राधाकृष्णन् अमेरिका गए। अमेरिका में भी कई सभाओं और संस्थाओं में उन्होंने भाषण दिये। अमेरिका में भी उनके दार्शनिक विचारों की अधिकाधिक सराहना की गई। इन्हीं दिनों उन्होंने एक और भी पुस्तक लिखी। उनकी इस पुस्तक का नाम 'मानव सभ्यता का भविष्य' है। उनकी इस पुस्तक ने उन्हें धार्मिक-जगत में बहुत ऊँचा उठा दिया। क्योंकि उन्होंने आज की वैज्ञानिक दुनिया को अपनी इस पुस्तक के द्वारा एक नए मार्ग की ओर विश्व धर्म-पथ पर चलने की प्रेरणा दी है।

विदेशों की यात्रा से श्री राधाकृष्णन् जब लौट कर देश पहुँचे तो बड़े-बड़े विद्वानों और अध्यापकों तथा जनता ने हृदय से उनका स्वागत किया। उनके सम्मान में बड़ी-बड़ी गोष्ठियाँ की गयीं। उनके ऊपर अखबारों में लेख लिखे गए। इन्हीं दिनों आंध्र विश्वविद्यालय ने उन्हें डी० लिट्० की उपाधि देकर सम्मानित किया। श्री राधाकृष्णन् अभी तक प्रोफेसर थे, पर डी०लिट्० की उपाधि पाने पर वे डा० राधाकृष्णन् के नाम से माने जाने लगे।

डा० राधाकृष्णन् को विदेश से लौटे हुए अभी थोड़े ही दिन हुए थे कि उन्हें फिर इंग्लैंड जाने का निमंत्रण मिला। बात यह थी कि आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में एक प्रोफेसर की जगह खाली हुई थी। डा० राधाकृष्णन् की ख्याति चारों ओर फैल ही चुकी थी, अतः उन्हें आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में निमंत्रित किया गया। उन दिनों आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में किसी भारतीय की नियुक्ति नहीं की जाती थी। डा० साहब के लिए यह निमंत्रण बड़े आदर और सम्मान का निमंत्रण था। अतः उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया। वे लन्दन आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में प्रोफेसर होकर चले गए।

डा० साहब एक वर्ष तक लन्दन रहे। इसके बाद वे फिर भारत लौट आये, आंध्र विश्वविद्यालय में उप-कुलपति के पद पर प्रतिष्ठित हुए। इसके बाद कलकत्ता विश्वविद्यालय ने उन्हें आजीवन प्रोफेसर के पद पर प्रतिष्ठित किया गया। इन्हीं दिनों ब्रिटेन की सरकार ने उन्हें 'सर' की उपाधि देकर उनका सम्मान किया।

इन्हीं दिनों आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से, फिर उनके पास

बुलावा आया। डाक्टर साहब बड़ी चिन्ता में पड़ गए। सोचने लगे कि अब वे क्या करें ? क्योंकि उन दिनों वे आंध्र विश्वविद्यालय के उपकुलपति तो थे ही, कलकत्ता विश्वविद्यालय के आजीवन प्रोफेसर भी थे। आंध्र विश्वविद्यालय के उपकुलपति-पद से तो उन्होंने त्याग-पत्र दे दिया, पर कलकत्ता विश्वविद्यालय के अधिकारी उन्हें छोड़ने के लिए तैयार न हुए। कलकत्ता विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने कहा कि वे वर्ष के चार महीने तो कलकत्ता विश्वविद्यालय में काम करें और शेष महीने आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में करें। डा० साहब ने यह बात मान ली। फलतः वे फिर आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में चले गए। पर उस बार उन्हें बार-बार भारत लौट आना पड़ता था, और इसी प्रकार बार-बार लन्दन भी जाना पड़ता था। लन्दन और भारत की बार-बार की यात्रा से उन्हें अधिक असुविधाओं का सामना करना पड़ता था, उनका समय भी व्यर्थ की बातों में नष्ट होता था।

इन्हीं दिनों दूसरा विश्व महायुद्ध छिड़ गया। महायुद्ध छिड़ने के कारण जहाज़ों के आने-जाने में कठिनाइयां होने लगीं। फलतः डाक्टर साहब ने आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से त्याग-पत्र दे दिया। अब वे भारत में ही रहकर कार्य करने लगे। पर अभी कुछ ही समय व्यतीत हुआ था कि पंडित मदन मोहन मालवीय जी ने, उन्हें हिन्दु विश्वविद्यालय के उप-कुलपति पद के लिए आमंत्रित किया। डाक्टर साहब मालवीय जी के निमंत्रण पर, हिन्दू विश्व विद्यालय में चले गए, और उप-कुलपति-पद पर प्रतिष्ठित हुए।

इस प्रकार डाक्टर साहब अपने जीवन के आरम्भिक काल में शिक्षा के क्षेत्र में जो उतरे, तो बराबर आगे बढ़ते ही गए।

उन्होंने कई विश्वविद्यालयों में अध्यापन कार्य किया, कई विश्व-विद्यालयों के उप-कुलपति भी रहे। जीवन के कई महत्त्वपूर्ण वर्ष उनके विद्यार्थियों के बीच में ही गुजरे। एक सफल अध्यापक और उप-कुलपति के रूप में उन्होंने बड़ी कीर्ति अर्जित की। वे अपने विषय के प्रकांड पंडित हैं। अंग्रेजी, संस्कृत और तमिल पर उनका पूर्ण अधिकार है। वे जब अपनी कक्षा में पढ़ाने लगते थे, और उनके मुख से शब्दों का एक स्रोत सा फूटता हुआ जान पड़ता था। कठिन से कठिन बात को भी वे बड़ी सरलता के साथ विद्यार्थियों के मन पर बिठा दिया करते थे। विद्यार्थियों के साथ उनका व्यवहार बड़ी सुजनता का होता था। वे अपने विद्यार्थियों को सदा अपने हृदय का स्नेह और प्यार दिया करते थे। हिन्दू विश्वविद्यालय में जब तक वे उप-कुलपति के पद पर रहे, विश्वविद्यालय में सदा प्रेम और शान्ति का ही वातावरण रहा। उनके स्नेह उनकी विद्वता, और उनकी सुजनता की छाया में विद्यार्थी और अध्यापक दोनों ही अपने-अपने कर्तव्यों का पालन कड़ी निष्ठा से किया करते थे।

यद्यपि डा० राधाकृष्णन् अभी भी भारत की राजनीति में नही गये थे, पर यह तो सत्य ही है कि देश के बड़े-बड़े राज-नीतिक नेता उनकी विद्वता के कारण हृदय से उसका सम्मान करते थे। महात्मा गाँधी, स्वर्गीय जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभ भाई पटेल, राजगोपालाचार्य आदि सब के हृदय में उनके [illegible] आदर और श्रद्धा का भाव था। यही कारण है कि १९४७ पन्द्रह अगस्त को जब भारत स्वतंत्र हुआ, तो भारत की [illegible] सरकार की ओर से उनका आह्वान प्रशासनिक-क्षेत्र के लिए [illegible] गया। डा० राधाकृष्णन् अभी तक शिक्षा के क्षेत्र में थे।

भारत सरकार के आह्वान पर उन्होंने प्रशासनिक क्षेत्र में प्रविष्ट किया गया। शिक्षा-क्षेत्र की भाँति प्रशासनिक क्षेत्र में भी उन्होंने एक ऊँचा और प्रशंसनीय मापदण्ड स्थापित किया।

सर्वप्रथम १९४९ ई० में डा० राधाकृष्णन् राजदूत बना कर भेजे गए। इसके पूर्व विजयलक्ष्मी रूस में राजदूत का कार्य कर चुकी थी। उन दिनों रूस के सर्वेसर्वा स्टैलिन थे, कोई भी राजदूत बड़ी कठिनाई से उनको मिल पाता था। स्टैलिन से मिलना—मिलकर उनसे बातचीत करना बड़े आदर की बात मानी जाती थी। पं० विजयलक्ष्मी ने अपने राजदूत-काल में उनसे मिलने के लिए कई बार प्रयत्न किए, पर स्टैलिन से उनकी भेंट न हुई। पर उन्हीं स्टैलिन ने डा० राधाकृष्णन् से दो बार भेंट की। केवल भेंट ही नहीं की हृदय से उनका स्वागत भी किया, उन्हें सम्मान प्रदान किया।

१९५२ ई० में डाक्टर साहब को सर्व-सम्मति से भारत के उप-राष्ट्रपति-पद पर प्रतिष्ठित किया गया। वे इस पद पर दस वर्ष तक रहे। १९६२ ई० के मई महीने में जब प्रथम राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद ने अवकाश ग्रहण किया, तब वे राष्ट्रपति पद पर प्रतिष्ठित हुए। डाक्टर साहब १९६७ ई० के मई महीने तक इस पद पर रहे। उन्होंने राष्ट्रपति के पद पर रह कर, देश को अपनी अमूल्य सेवाएँ समर्पित कीं। उनके कार्य-काल में देश के भीतर कई प्रशासनिक सुधार हुए—देश शान्ति, उन्नति और कल्याण की ओर अग्रसर हुआ।

राष्ट्रपति होने के पूर्व डाक्टर साहब में जो सादगी, जो सरलता, जो धर्म-निष्ठा और जो सुजनता थी, वह राष्ट्रपति-पद पर प्रतिष्ठित होने पर भी उनके जीवन में ज्यों की त्यों बनी

रही। अपने राष्ट्रपति के जीवन में उन्होंने कई आदर्श और दृष्टां
सामने रखे, जो अद्वितीय कहे जा सकते हैं।

राष्ट्रपति को दस हजार रुपए मासिक वेतन मिलता है
किन्तु जब डा० राधाकृष्णन् राष्ट्रपति-पद पर प्रतिष्ठित हुए, त
उन्होंने वेतन के रूप में केवल ढाई हजार रुपए मासिक लेना
स्वीकार किया। साढ़े सात हजार रुपए प्रति मास, देश के लिए
छोड़कर डाक्टर साहब ने जिस 'त्याग' का परिचय दिया, वह
बेजोड़ है। डा० साहब ने एक और भी कार्य किया, जो उन्हीं के
अनुरूप है। अभी तक यह निश्चय था कि जब किसी भी मनुष्य
को राष्ट्रपति भवन में जाना होता था, तब उसे स्वीकृति लेनी
होती थी। किन्तु डाक्टर साहब ने राष्ट्रपति पद पर प्रतिष्ठि
होते ही इस नियम को हटा दिया। उन्होंने सबके लिए सप्ताह
में दो बार राष्ट्रपति भवन में जाने—और राष्ट्रपति से मिलने की
छूट दे दी। उनके कार्य काल में गरीब से गरीब आदमी भी
बिना किसी रुकावट के राष्ट्रपति-भवन में जा सकता था, अपने
राष्ट्रपति के दर्शन करके उनसे अपना सुख-दुख कह सकता था।

डाक्टर साहब राष्ट्रपति पद पर होते हुए भी किसान, मजदूर
गरीब-अमीर—सबसे बिना किसी भेद-भाव से मिला करते थे।
यद्यपि ये एकांत-प्रिय व्यक्ति हैं, मानव और चिन्तन उन्हें अधिक
प्रिय है, पर अपने राष्ट्रपति-जीवन में वे सबसे दिल खोलकर मिला
करते थे। जो भी उनसे मिलता, वह उनकी खुश-मिजाजी, उनकी
उनकी सुजनता, और उनकी सरलता पर मोहित हो जाता। डाक्टर
साहब अपने राष्ट्रपति जीवन में भी ठाट-बाट, और तड़क-भड़क
से दूर रहे। यश-लिप्सा ने कभी उन्हें पराभूत नहीं किया। यद्यपि
'यश' उनके पीछे-पीछे भागता था, पर वे सदा 'यश' की ओर से

मुँह मोड़ते रहे। एक बार जब वे उप राष्ट्रपति-पद पर थे, देश-देशों की यात्रा में गए। वे जहाँ भी गए, उन्होंने अपने ऊँचे विचारों से भारत के गौरव को स्थापित किया। चारों ओर उनकी 'वाह-वाह' होने लगी। वहाँ से जब वे लौट कर आये, तो दिल्ली में उनका अभिनन्दन किया गया था। अभिनन्दन-सभा में एक सज्जन ने डा० साहब की प्रशंसा करते हुए कहा—"डा० राधाकृष्णन् जहाँ महान् वक्ता, दार्शनिक और विद्वान् हैं, वहीं एक महान् सन्त भी हैं।" डाक्टर साहब ने अभिनन्दन के उत्तर में इस बात की चर्चा करते हुए कहा—"मैं सन्त नहीं हूँ। सन्त बनना मुझे पसन्द भी नहीं। मैं एक सांसारिक व्यक्ति हूँ और जीवन में हर-क्षेत्र में रस लेना चाहता हूँ।"

डाक्टर साहब ने १९६७ ई० के मई महीने में अपने पद से अवकाश-ग्रहण कर लिया। वे तबसे अपने पैतृक स्याल में रहते हैं, मनन और चिन्तन में अपना समय व्यतीत करते हैं।

द्वितीय प्रधानमंत्री–श्री लालबहादुर शास्त्री

स्वर्गीय शास्त्री जी बहुत छोटे कद के मनुष्य थे। यदि संसार के देशों के प्रधान मंत्रियों को एक पंक्ति में खड़ा करके देखा जाए तो शास्त्री जी के समान छोटे कद का प्रधान मंत्री कदाचित् ही कोई दूसरा मिले। शास्त्री जी के उस छोटे से कद के शरीर में महान् आत्मा निवास करती थी। उनकी आत्मा में त्याग, अहिंसा, सरलता, ईमानदारी, लगन और कर्तव्यपरायणता की अनोखी स्फूर्ति थी। १९६४ ई० की २७ मई को जब

श्री नेहरू जी का महाप्रयाण हुआ तो उसके वाद शास्त्री जी अपने इन्हीं गुणों के कारण स्वतन्त्र भारत के द्वितीय प्रधानमंत्री के पद पर प्रतिष्ठित हुए। यद्यपि शास्त्री जी लगभग डेढ़ वर्ष तक ही प्रधान मंत्री के पद पर रह सके थे, पर इस डेढ़ वर्ष में ही उन्होंने ऐसी कीर्ति अर्जित की, कि वे अमर वन गये। आज वे धरती पर नहीं हैं, पर उनकी याद सदा भारतीयों के हृदय मे वनी रहेगी।

शास्त्री जी का जन्म एक वहुत ही साधारण कुटुम्ब में हुआ था। उनके पिता एक शिक्षक थे। उनकी माता सरल स्वभाव की, अत्यन्त धर्म-निष्ठ भारतीय नारी थीं। आर्थिक स्थिति वहुत ही साधारण थी। फलस्वरूप शास्त्री जी को वचपन में वड़ी-वड़ी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ीं। उन्हें कभी अपने नाना के घर और कभी अपने मौसा के घर रहना पड़ा। वचपन में ही शास्त्री जी वहुत ही सीधे-सादे और सरल स्वभाव के थे। वे खेल-कूद में अधिक भाग न लेते थे। वे खेल-कूद से दूर, प्रायः सोच-विचार में डूबे रहा करते थे।

शास्त्री जी की प्रारम्भिक शिक्षा मिर्जापुर में हुई। मिर्जापुर में ही उनके नाना का घर था। प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् शास्त्री जी वाराणसी चले गए, अपने मौसा के घर रहकर हरिश्चन्द्र हाई स्कूल में पढ़ने लगे। उन दिनों हरिश्चन्द्र स्कूल में एक पंडित जी अध्यापक थे। उनका नाम निष्कामेश्वर प्रसाद था। निष्कामेश्वर प्रसाद राष्ट्रीय विचार के व्यक्ति थे। शास्त्री जी की सरलता और निष्कपटता के कारण वे उन पर अधिक प्रसन्न रहा करते थे।

एक दिन पंडित जी ने अपनी कक्षा के सभी बालकों को मेला दिखाने का कार्यक्रम बनाया। उन्होंने प्रत्येक लड़के को आदेश दिया कि वह अपने घर से एक-एक आना लायें। दूसरे दिन जब सभी लड़के मेला देखने के लिए जाने लगे तो शास्त्री जी ने इंकार कर दिया। पंडित जी ने जब कारण पूछा, तो उन्होंने 'मन न होने' का बहाना बनाया। आखिर, पंडित जी ताड़ गए। उन्होंने प्रश्न किया—'पैसे लाए हो ?' शास्त्री जी ने उत्तर में 'हाँ' तो कह दिया, किन्तु जब पंडित जी ने पैसे निकालने के लिए कहा, तो वे अपनी जेब में हाथ डालकर रह गए। पंडित जी ने जब स्वयं उनकी जेब में हाथ डाल कर देखा तो वहाँ केवल एक ही पैसा था। पंडित जी को बड़ा दुख हुआ वे छुट्टी होने पर शास्त्री जी को अपने घर लिवा गये। घर पहुँच कर उन्होंने अपनी पत्नी से, जिन्हें वे 'भाभी' जी कहा करते थे, शास्त्री जी का परिचय कराते हुए कहा—"अभी तक तुम्हारे तीन बेटे थे, आज मैं तुम्हें चौथा बेटा सुपुर्द कर रहा हूँ।"

इस घटना से इस बात का पता चलता है कि शास्त्री जी का विद्यार्थी जीवन बड़ा अभाव-ग्रस्त था। उन्हें अपने विद्यार्थी जीवन में एक आना पैसा खर्च करना भी अधिक कठिन था।

शास्त्री जी जिन दिनों हरिश्चन्द्र हाई स्कूल में पढ़ रहे थे, उन्हीं दिनों गांधी जी ने भारत की स्वतन्त्रता के लिए असहयोग की लड़ाई आरम्भ की। शास्त्री जी की अवस्था उन दिनों पंद्रह-सोलह वर्ष की थी। उनके घर की हालत अच्छी न थी। फिर भी शास्त्री जी के गांधी जी के आह्वान पर पढ़ना-लिखना छोड़कर असहयोग की लड़ाई में सम्मिलित हो गए। वे कभी विदेशी [illegible] और कभी शराब की दुकानों पर पिकेटिंग करने लगे;

फलस्वरूप वे गिरफ्तार हुए और ढाई वर्ष के लिए जेल में डाल दिए गए।

शास्त्री जी की यह पहली जेल यात्रा थी। वे ढाई वर्ष के बाद जब जेल से छूट कर आए तो काशी विद्यापीठ में नाम लिखाकर फिर अपनी अधूरी शिक्षा को पूरी करने लगे। शास्त्री जी के उन दिनों के विद्यार्थी-जीवन का एक चित्र उनके सहपाठी श्री टी०एन० सिंह जी ने इस प्रकार खींचा है—'शास्त्री जी जैसा कि सभी लोग जानते हैं, कद में छोटे थे। उस समय और भी छोटे थे। घर के सभी लोग उन्हें 'नन्हे' कहा करते थे। वे भी नानक जी के इस दोहे को बराबर दोहराया करते थे—

'नानक' नन्हे में रह्यो, जैसी नन्हीं दूब।
और ऊख सूख जायगी, दूब-दूबनी रूब॥

यों तो हम सभी कभी न कभी कोई गीत या पद्य गुनगुनाते थे, पर मैंने शास्त्री जी को उक्त दोहे को दोहराते हुए सुना है। ऐसा मालूम होता है कि उस समय उन्होंने निश्चय कर लिया था कि सारी ज़िन्दगी वह विनम्रता, सरलता और सचाई से रहेंगे।

काशी विद्यापीठ की सर्वोच्च परीक्षा पास करने के पश्चात् शास्त्री जी लाला लाजपतराय द्वारा स्थापित 'लोक सेवक मंडल' में सम्मिलित हुए। लाहौर जाकर लोक सेवक मंडल के कार्यालय में काम सीखने लगे। लाहौर में रहते हुए शास्त्री जी को सबसे अधिक अपने मौसा की याद आया करती थी। वे बराबर इस बात को सोचा करते थे कि वे जो कुछ बन सकते हैं, उसमें उनके मौसा की ही उदारता और सहृदयता है। क्योंकि उन्होंने

वाराणसी में अपने मौसा के ही घर रहकर तथा खा-पीकर विद्या अर्जित की थी। अतः शास्त्री जी को जब वेतन मिला तो उन्होंने बिना इस बात पर विचार किए हुए कि उनका काम लाहौर जैसे शहर में किस प्रकार चलेगा, अपना पूरा का पूरा वेतन अपने मौसा के पास भेज दिया। उनके मौसा को ज्ञात था कि शास्त्री जी ने मंडल की सदस्यता ग्रहण की है और उन्हें कितना वेतन मिलता है। अतः जब उन्हें नोटों का बीमा मिला, तो वे नोटों को गिन कर स्तब्ध हो गए और उनकी आँखों में आँसू भर आए। उनके मुख से बरबस निकल पड़ा—'देखो, नन्हे के हृदय की विशालता ! उसने पूरा का पूरा वेतन मेरे पास भेज दिया। यह भी न सोचा कि आखिर उसका काम कैसे चलेगा ?' उन्होंने लौटती डाक से उन नोटों को पुनः शास्त्री जी के पास भेज दिया।

शास्त्री जी कुछ दिनों तक लाहौर में रहकर पुनः उत्तर प्रदेश में लौट आए, मुजफ्फर नगर में रहकर 'मंडल' का कार्य करने लगे। इन्हीं दिनों शास्त्री जी का विवाह हुआ। विवाह होने के पश्चात् वे प्रयाग में आकर रहने लगे। प्रयाग में रहते हुए भी वे 'मंडल' का काम किया करते थे। 'मंडल' के कार्यों में देश-सेवा, अछूतोद्धार और खादी-प्रचार इत्यादि काम मुख्य रूप थे।

शास्त्री जी १६२० और २२ में ही कांग्रेस में सम्मिलित हो गए थे। जब वे प्रयाग में रहने लगे तो स्वर्गीय टंडन जी, और नेहरू जी के संपर्क में आये। इन दोनों महान नेताओं ने शास्त्री जी को अधिक प्रेरणा और प्रोत्साहन प्रदान किया। शास्त्री जी उन दोनों नेताओं के सहयोग और सहानुभूति को

पाकर दिनों-दिन कांग्रेस के भीतर आगे बढ़ने लगे। कुछ ही दिनों में प्रयाग के कांग्रेसी नेताओं में उनका मुख्य स्थान हो गया।

कांग्रेस में जब-जब देश की स्वतंत्रता की लड़ाई के लिए बिगुल बजाया, शास्त्री जी ने कांग्रेस के एक सिपाही के रूप में उसमें भाग लिया। शास्त्री जी कितनी ही बार जेल गए, और कितनी ही बार उन्होंने लम्बी-लम्बी सजाएँ भी काटीं। उन्होंने स्वयं जेलों में भाँति-भाँति के कष्ट तो झेले ही, उनके जेल जाने पर उनके कुटुम्ब को भी तरह-तरह के कष्ट उठाने पड़े। इसका कारण यह था कि शास्त्री जी के कुटुम्ब की आर्थिक अवस्था अच्छी न थी। शास्त्री जी अपने कुटुम्ब की देख-रेख करने वाले केवल अकेले थे। जब वे जेल चले जाते थे, तो एक प्रकार से उनका कुटुम्ब असहाय हो जाता था।

शास्त्री जी कुल मिलाकर ग्यारह बार जेल गए, उनकी जेल की सजाएँ छः मास से लेकर, दो-दो, तीन-तीन वर्ष तक चलीं थीं। उन्होंने अपने जेल को सजाएँ एक वीर सत्याग्रही की भाँति काटी थीं। वे जब और जिस जेल में रहे, गांधी जी के सिद्धान्तों का पालन बड़ी दृढ़ता के साथ किया करते थे। उन्हें बार-बार कई जेलों में रहना पड़ा था। नैनी, मलाका, उन्नाव, फैजाबाद, वाराणसी, फतेहपुर की जेलें प्रायः उनकी साधना का केन्द्र रही थीं। यों तो उनके जेल के साथियों में बहुत से लोग थे, पर उनमें श्री नेहरू, आचार्य विनोबा भावे, राजर्षि टण्डन और श्री जयप्रकाश आदि मुख्य हैं।

शास्त्री जी अपना समय लिखने-पढ़ने और चिन्तन में व्यतीत करते थे। वे गीता बड़े चाव से पढ़ा करते थे। संसार के

महापुरुषों के जीवन-चरित्रों को पढ़ने में उन्हें बड़ा आनन्द आता था। लड़ना-झगड़ना और अपनी आवश्यकताओं के लिए अधिकारियों से संघर्ष करना उनकी आदत में न था। जेल के नियमों के अनुसार उन्हें जो कुछ मिलता था, वे उसी पर गुजारा करते थे। शास्त्री जी के जेल जीवन का चित्र उनके जेल के एक साथी ने इन शब्दों में चित्रित किया है—"जैसे चाँद का उदय होते ही उसकी शीतलता जग पर छा जाती है, वैसे ही शास्त्री जी के आते ही हम लोगों का जीवन-क्रम ही बदल गया। यह नहीं कि शास्त्री जी ने किसी को डाँटा हो, फटकारा हो, बहुत ज्यादा कोई उपदेश दिया हो पर उनका प्रभाव सब पर जादू की तरह छा गया।'

शास्त्री जी ने अपने देश-प्रेम, अपने त्याग, अपनी कर्मठता और अपनी सादगी से देश के बड़े-बड़े नेताओं को मोहित कर लिया। स्वर्गीय नेहरू और राजऋषि टण्डन जी का स्नेह उन्हें पहले से ही प्राप्त था, प्रांत के बड़े-बड़े नेता भी उनका आदर सम्मान करने लगे। परिणामतः पहले नगर, फिर जिला और उसके बाद प्रांतीय कांग्रेस कमेटी में भी शास्त्री का स्थान बन गया। कुछ दिनों के पश्चात् तो वे भारतीय कांग्रेस कमेटी की कार्य-समिति में भी जा पहुँचे और भारत के विशिष्ट गण्यमान नेता माने जाने लगे।

देश में जब-जब विधान सभाओं का चुनाव हुआ, शास्त्री जी ने कांग्रेस की ओर से चुनाव में भाग लिया और विजय प्राप्त की। सबसे पहला चुनाव शास्त्री जी ने प्रयाग की नगर-पालिका की सदस्यता का लड़ा था। वे कई वर्ष तक नगर

पालिका के सदस्य रहे। इसके बाद उन्होंने क्रमानुक्रम १६३७, १६४७, १६५२ और १६६२ में चुनाव लड़े। शास्त्री जी ने सभी चुनावों में विजय प्राप्त की थी। १६३७ ई० का चुनाव जीतने के बाद शास्त्री जी पंत जी की सरकार में पार्लियामेंटरी सेक्रेट्री नियुक्त हुए थे। १६४७ ई० के चुनाव के बाद जब उत्तर प्रदेश में पंत सरकार बनी तो शास्त्री जी को गृह और यातायात-मंत्री के पद पर प्रतिष्ठित किया गया था। १६५२ का चुनाव जीतने के बाद शास्त्री जी नेहरू जी की इच्छानुसार त्याग-पत्र देकर केन्द्र में चले गए और राज्य सभा के सदस्य होकर केन्द्रिय मंत्रिमंडल में सम्मिलित हुए। १६५६-५७ के चुनाव में शास्त्री जी लोकसभा के लिए खड़े हुए और विजयी हुए। वे फिर केंद्रिय मंत्रिमंडल में लिए गए। १६६२ के चुनाव में शास्त्री जी ने फिर सफलता प्राप्त की। इस बार केन्द्रिय मंत्रिमंडल में उन्हें स्वराष्ट्र मंत्री का पद मिला। पर १६६३ ई० में 'कामराज योजना' के अनुसार उन्होंने त्यागपत्र दे दिया। १६६४ ई० की २४ जनवरी को शास्त्री जी फिर मंत्रिमण्डल में सम्मिलित हो गए।

१६६४ की २७वीं मई को सहसा नेहरू जी का स्वर्गवास हो गया। नेहरू जी के स्वर्गवास के पश्चात् शास्त्री जी प्रधान-मंत्री के पद पर प्रतिष्ठित हुए। शास्त्री जी के प्रधान मंत्री काल में ही भारत और पाकिस्तान का युद्ध हुआ। इस युद्ध में शास्त्री जी ने प्रशंसनीय बुद्धिमता, साहस और कुशलता से काम लिया; फलस्वरूप युद्ध में भारत को विजय प्राप्त हुई। इस विजय के साथ ही शास्त्री जी की यश-पताका भारत के कोने-

कोने में उड़ने लगी। वे युग-युगों के लिए अमर बन गए। पर इसी युद्ध के सिलसिले में वे शान्ति-वार्ता के लिए ताशकंद गये। उन्होंने ताशकंद में पाकिस्तान के साथ ऐतिहासिक संधि की। पर इस संधि के बाद ही, ताशकंद में ही हृदय-गति बंद हो जाने के कारण उनका निधन हो गया। शास्त्री जी धरती से चले गये, पर उनकी याद भारतीयों को युग-युगों तक बनी रहेगी। इसका कारण यह नहीं कि वे स्वतंत्र भारत के प्रधान मंत्री थे, बल्कि इसका कारण तो यह है कि वे सादगी-पसन्द एक सत्यनिष्ठ, ईमानदार और सरल हृदय के महामानव थे। वे गरीबी की गोद में पैदा हुए थे। उन्होंने बहुत ही निकट से गरीबी को देखा था। पर जब वे प्रधान मंत्री पद पर प्रतिष्ठित हुए, तब भी 'गरीबी' को भूल न सके। उनका रहन-सहन, उनका खान-पान और उनके आचार-विचार जैसे जीवन के प्रारंभिक दिनों में थे, वैसे ही मंत्री और प्रधान मंत्री होने पर भी ज्यों-के-त्यों बने रहे। उनके जीवन की निम्नलिखित कहानियों और घटनाओं में तुम उनकी सादगी, सरलता और निरभिमानता को देख सकोगे।

बात उन दिनों की है, जब शास्त्री जी प्रधान मंत्री थे। एक दिन विदेश मंत्री माननीय स्वर्णसिंह जी शास्त्री जी से मुलाकात करने के लिए उनके बंगले पर गये। मुलाकात के लिए कई दूसरे लोग और उच्च अधिकारी भी प्रतीक्षा में बैठे हुए थे। शास्त्री जी बाहर निकल कर इन सभी लोगों से भेंट मुलाकात करने लगे। सहसा उनकी दृष्टि सामने वृक्ष के नीचे बैठे हुए एक वृद्ध पर पड़ी, जो अपने जीर्ण-शीर्ण कपड़ों में शास्त्री जी की ओर बड़ी श्रद्धा और उत्कण्ठा से देख रहा था।

स्त्री जी शीघ्र ही लोगों से क्षमा माँग कर उस वृद्ध व्यक्ति के
ऱ जा पहुँचे। वृद्ध की आँखें छलछला उठीं। उसने बड़ी
द्रा से बगल से एक पोटली निकाली और उसे खोलकर
स्त्री जी के सामने प्रस्तुत किया। उसमें हरे मटर के दाने
। शास्त्री जी ने बड़े प्रेम से दो-तीन दाने अपने मुँह में डाले,
को अपने बँगले के भीतर भेज दिया।

बात उन दिनों की है, जब शास्त्री जी उत्तर प्रदेश में पुलिस
ो के पद पर प्रतिष्ठित थे। एक दिन शास्त्री जी कहीं दौरे
जा रहे थे। अचानक उनकी कार खराब हो गई। वे निकट
ाने में सहायता के लिए गये। संयोगतः उस समय थाने
इंचार्ज-दारोगा थाने में नहीं था। शास्त्री जी ने मुंशी के
ने अपनी कठिनाइयाँ रखीं। पर मुंशी जी ने उन्हें झिड़क
ा, कहा—"इस प्रकार बहुत से लोग आते हैं, अपनी इस
ार की कठिनाइयाँ बताते हैं, मैं कुछ नहीं कर सकता।" शास्त्री
थाने से निकल ही रहे थे कि इंचार्ज आ गया। शास्त्री
को देखते ही उसने उन्हें झुक कर नमस्ते की। पलक मारते
ारे थाने में बिजली की तरह खबर फैल गई। मुंशी के तो
काँप गये। वह दौड़कर शास्त्री जी के पास पहुँचा। हाथ
कर बोला—"हुजूर, भूल हो गई।" शास्त्री जी ने हँसकर
की पीठ थपथपाई और वहाँ से चल दिए।

शास्त्री का व्यक्तित्व गाँधी जी, नेहरू जी और राजऋषि
जी के गुणों का एक मिला-जुला स्वरूप था। शास्त्री जी
दगी, सरलता, सचाई, कर्मठता और हृदय की विशालता
महामानवों से ग्रहण की थी।

तृतीय राष्ट्रपति–डा० ज़ाकिर हुसैन

सिर पर गांधी टोपी, आंखों पर काले रंग का ऐनक, सुन्दर सौम्य मुख मण्डल, चेहरे पर सरलता, ठुड्डी में छोटी-सी दाढ़ी। यह हैं डाक्टर जाकिर हुसैन—स्वतन्त्र भारत के तीसरे राष्ट्रपति। डा० राधाकृष्णन् के अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् इन्हीं को भारत के राष्ट्रपति पद पर प्रतिष्ठित होने का महान् सौभाग्य प्राप्त हुआ। इसके पूर्व वे उपराष्ट्रपति के पद पर प्रतिष्ठित थे। डा० साहब आज धरती पर नहीं हैं। पर उनकी सादगी,

नके हृदय की सरलता, श्रेष्ठता और विद्वता आज भी लोगों
ो याद है—इसी प्रकार सदा-सदा याद रहेगी।

डाक्टर साहब का जन्म हैदराबाद में हुआ था। उनके
ता का नाम श्री फिदाहुसैन था। वे एक सुप्रसिद्ध वकील थे।
नके पूर्वज कायमगंज, फर्रुखाबाद (उत्तर प्रदेश) के निवासी
। पर फिदाहुसैन हैदराबाद में जाकर रहने लगे। उन्होंने धन
र यश दोनों क्षेत्रों में अधिक नाम प्राप्त किया था।

डा० साहब को बाल्यावस्था में ही अपने माता-पिता के वियोग
कठिन दुख सहने पड़े थे। जब वे केवल पाँच वर्ष के ही थे,
की माँ उन्हें छोड़कर संसार से चली गईं। नौ वर्ष के होते-
े उनके पिता भी उन्हें छोड़कर चले गये। डा० साहब अपनी
को बड़ा प्रेम करते थे। कहा जाता है कि डा० साहब ने
त से गुण अपनी माँ से ही ग्रहण किये थे।

माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् डा० साहब अपने कुटुम्बियों
ाथ फिर अपनी पैतृक भूमि—कायमगंज चले गए। इटावा में
स्कूल में नाम लिखा कर पढ़ने लगे। इन्हीं दिनों डा० साहब
बहुत बड़े संत के सम्पर्क में आये। उन संत का नाम
शाह था, वे सूफी थे। वे बड़े सरल हृदय के थे, लिखने-
का उन्हें बड़ा चाव था। कहा जाता है कि सादगी, सरलता
लिखने-पढ़ने के प्रति निष्ठा का गुण बालक ज़ाकिर हुसैन
हसनशाह से ही प्राप्त हुआ था।

स्कूल की शिक्षा पूरी करने के पश्चात् ज़ाकिर हुसैन अलीगढ़
गये, मुस्लिम-एंग्लो-ओरियंटल कालेज में नाम लिखाकर
लगे। ज़ाकिर हुसैन एक योग्य और प्रतिभावान् विद्यार्थी

तृतीय राष्ट्रपति- डा० ज़ाकिर हुसैन

सिर पर गांधी टोपी, आंखों पर काले रंग का एनक, सुन्दर सौम्य मुख मण्डल, चेहरे पर सरलता, ठुड्डी में छोटी-सी दाढ़ी। यह हैं डाक्टर जाकिर हुसैन—स्वतन्त्र भारत के तीसरे राष्ट्रपति। डा० राधाकृष्णन् के अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् इन्हीं को भारत के राष्ट्रपति पद पर प्रतिष्ठित होने का महान् सौभाग्य प्राप्त हुआ। इसके पूर्व वे उपराष्ट्रपति के पद पर प्रतिष्ठित थे। डा० साहब आज धरती पर नहीं हैं। पर उनकी सादगी,

उनके हृदय की सरलता, श्रेष्ठता और विद्वता आज भी लोगों को याद है—इसी प्रकार सदा-सदा याद रहेगी।

डाक्टर साहब का जन्म हैदराबाद में हुआ था। उनके पिता का नाम श्री फिदाहुसैन था। वे एक सुप्रसिद्ध वकील थे। उनके पूर्वज कायमगंज, फर्रुखाबाद (उत्तर प्रदेश) के निवासी थे। पर फिदाहुसैन हैदराबाद में जाकर रहने लगे। उन्होंने धन और यश दोनों क्षेत्रों में अधिक नाम प्राप्त किया था।

डा० साहब को बाल्यावस्था में ही अपने माता-पिता के वियोग के कठिन दुख सहने पड़े थे। जब वे केवल पाँच वर्ष के ही थे उनकी माँ उन्हें छोड़कर संसार से चली गईं। नौ वर्ष के होते होते उनके पिता भी उन्हें छोड़कर चले गये। डा० साहब अपनी माँ को बड़ा प्रेम करते थे। कहा जाता है कि डा० साहब ने बहुत से गुण अपनी माँ से ही ग्रहण किये थे।

माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् डा० साहब अपने कुटुम्बियों के साथ फिर अपनी पैतृक भूमि—कायमगंज चले गए। इटावा में एक स्कूल में नाम लिखा कर पढ़ने लगे। इन्हीं दिनों डा० साहब एक बहुत बड़े संत के सम्पर्क में आये। उन संत का नाम हसनशाह था, वे सूफी थे। वे बड़े सरल हृदय के थे, लिखने पढ़ने का उन्हें बड़ा चाव था। कहा जाता है कि सादगी, सरलता और लिखने-पढ़ने के प्रति निष्ठा का गुण बालक जाकिर हुसैन को हसनशाह से ही प्राप्त हुआ था।

स्कूल की शिक्षा पूरी करने के पश्चात् जाकिर हुसैन अलीगढ़ चले गये, मुस्लिम-एंग्लो-ओरियंटल कालेज में नाम लिखाकर पढ़ने लगे। जाकिर हुसैन एक योग्य और प्रतिभावान् विद्यार्थी

थे। कक्षा में सभी विद्यार्थियों के ऊपर उनकी धाक रहती थी। कालेज भर में वे एक योग्य और होनहार छात्र समझे जाते थे। वे पढ़ने-लिखने में तेज तो थे ही, एक अच्छे वक्ता भी थे।

जिन दिनों ज़ाकिर हुसैन अलीगढ़ में पढ़ रहे थे, उन्हीं दिनों एक ऐसी घटना घटी, जिसके कारण उनके जीवन का पर्दा ही बदल गया। यह १९१९-२० का समय था। महात्मा गाँधी जी ने अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध असहयोग की लड़ाई का बिगुल बजा दिया था। देश के कोने-कोने में एक अपूर्व जोश छाया हुआ था। वकील, विद्यार्थी, अध्यापक सभी सरकारी नौकरियों और कालेजों को छोड़कर अंग्रेजी सरकार का बहिष्कार कर रहे थे।

इन्हीं दिनों १९२० ई० के अक्तूबर महीने में गाँधी जी अलीगढ़ गए। उन दिनों ज़ाकिर हुसैन की अवस्था तेइस वर्ष की थी, वे एम० ए० के विद्यार्थी थे। ज़ाकिर हुसैन को भी महात्मा गाँधी जी के व्याख्यान को सुनने का अवसर प्राप्त हुआ। गाँधी जी के व्याख्यान का उनके हृदय पर अधिक प्रभाव पड़ा; फलस्वरूप वे कालेज छोड़ने के लिए तैयार हो गये। उनके साथ कालेज के और भी बहुत से लड़के कालेज छोड़ने के लिए तैयार हो गए। कालेज के प्रिंसिपल को जब यह बात मालूम हुई, तो उन्होंने ज़ाकिर हुसैन को अपने पास बुलाया, उन्हें समझाते हुए कहा—"तुम कालेज छोड़ कर भूल कर रहे हो। एम० ए० पास कर लो। एम० ए० पास करने के बाद ही मैं तुम्हें डिप्टी कलेक्टरी दिलवा दूंगा।"

पर प्रिंसीपल की बात का ज़ाकिर हुसैन के हृदय पर लेश-मात्र भी प्रभाव न पड़ा। उन्होंने अपने कुछ साथियों के साथ

कालेज छोड़ दिया। उसी समय से वे खादी पहनने लगे, राष्ट्रीय कार्यों में योग देने लगे।

जाकिर हुसैन ने पढ़ाई छोड़कर अलीगढ़ में एक शिक्षा-संस्था स्थापित की। उस शिक्षा-संस्था का नाम 'जामिया मिलिया' था। जाकिर हुसैन उसमें अध्यापन का कार्य करने लगे।

दो-ढाई वर्ष के बाद जाकिर हुसैन के मन में अपनी अधूरी पढ़ाई को पूरी करने का विचार पैदा हुआ। पर वे अंगरेजी सरकार के कालिजों में पढ़ना नहीं चाहते थे। अतः उन्होंने इंगलैंड जाने का निश्चय किया। पर जब वे इंगलैंड के लिए रवाना हुए तो बीच में ही इटली में रुक गए। इटली से वे जर्मनी चले गए। जर्मनी के विश्वविद्यालय में पढ़कर उन्होंने अपनी अधूरी पढ़ाई पूरी की, अर्थशास्त्र में पी० एच० डी० को उपाधि प्राप्त की।

जर्मनी में पढ़ते हुए डाक्टर साहब ने यूरोप के कई देशों की यात्राएँ कीं। वे बड़े-बड़े विद्वानों और नेताओं से भी मिले। उन्होंने बहुत सी नई-नई बातें देखीं—नई-नई बातें सीखीं। १९२६ ई० में डाक्टर साहब लौट कर भारत आये। उन्होंने भारत लौटकर देखा, 'जामिया मिलिया' की दशा चिंतनीय थी। हालत इतनी बिगड़ चुकी थी कि लोग उसे बंद करने पर तुले हुए थे। पर डाक्टर साहब के मन में 'जामिया मिलिया' को लेकर बड़ी-बड़ी आशायें थीं। वे 'जामिया मिलिया' को एक महान् राष्ट्रीय शिक्षा-संस्था के रूप में देखना चाहते थे। अतः वे जर्मनी से लौटकर 'जामिया मिलिया' की उन्नति में लग गए

लोगों ने बड़े आदर के साथ उन्हें 'जामिया मिलिया' के उप-कुलपति पद पर प्रतिष्ठित किया।

इन्हीं दिनों 'जामिया मिलिया' को अलीगढ़ से दिल्ली लाया गया। डा० साहब दिल्ली में रहकर 'जामिया मिलिया' के उप-कुलपति के रूप में काम करने लगे। उन्हें वेतन के रूप में कुल तीन सौ रुपए मासिक मिला करते थे। वे तीन सौ रुपए में ही अपना और अपनें कुटुम्ब का सारा काम-काज चलाते थे। 'जामिया मिलिया' में वे अपने दफ्तर का सारा काम-काज अपने हाथों से ही किया करते थे। वे विद्यार्थियों को पढ़ाते तो थे ही, 'क्लर्क' और 'टाइपिस्ट' का कार्य भी अपने हाथों से ही किया करते थे।

जिन दिनों डाक्टर साहब 'जामिया मिलिया' में उप-कुलपति पद पर प्रतिष्ठित हुए, उनके पास बड़ी-बड़ी शिक्षा-संस्थाओं की ओर से बुलावा आया। बड़ी-बड़ी तनख्वाहों का प्रलोभन भी उन्हें दिया गया, पर वे 'जामिया मिलिया' को छोड़ कर न गए। वे २२ वर्षों तक 'जामिया मिलिया' के उप-कुलपति पद पर रह कर काम करते रहे। उन्होंने 'जामिया मिलिया' में काम करते हुए महान् 'त्याग' और 'निष्ठा' का परिचय दिया। उनके 'त्याग' और 'निष्ठा' से ही 'जामिया मिलिया' एक आदर्श शिक्षा-संस्था के रूप में हमारे सामने उपस्थित हो सकी है।

डाक्टर साहब प्रारम्भ में तीन सौ रुपए मासिक लेते थे। पर 'जामिया मिलिया' की उन्नति और विकास में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न हो इसलिए वे धीरे-धीरे अपना वेतन कम करने लगे। उन्होंने तीन सौ से दो सौ, फिर डेढ़ सौ और फिर केवल सौ रुपए ही लेने लगे थे। जिन दिनों उन्होंने उप-कुलपति

पद से अवकाश ग्रहण किया उनका वेतन केवल सौ रुपए मासिक था।

डाक्टर साहब ने एक अध्यापक के रूप में देश के अध्यापकों के सामने बहुत ऊँचे आदर्श उपस्थित किए। वे अपने विद्यार्थियों से बहुत प्रेम करते थे। छोटे बच्चों को पढ़ाने में उन्हें अधिक आनन्द आता था। वे प्रायः कहा करते थे—"बच्चों को शुरू से ही अच्छी शिक्षा मिलनी चाहिए, क्योंकि अगर पहली ईंट सही न हो तो उस पर सीधी दीवार खड़ी नहीं की जा सकती।" उन्हें गन्दगी से बड़ी घृणा थी। वे विद्यार्थियों को प्रायः सफाई से रहने के लिए उपदेश किया करते थे।

डा० ज़ाकिर हुसैन के अध्यापक-जीवन के कुछ प्रसंग बड़े रोचक और शिक्षा-प्रद हैं। तुम भी उन प्रसंगों को सुनो—

एक दिन डा० जाकिर हुसैन छोटे-छोटे बच्चों को पढ़ा रहे थे। सहसा उनका ध्यान एक बालक की ओर आकर्षित हुआ। उस बालक का नाम रशीद था। उन्होंने उसे पुकारते हुए कहा—"रशीद!"

रशीद अपने स्थान पर खड़ा हो गया। डाक्टर साहब ने कहा—"रशीद, तुम छुट्टी के बाद मेरे साथ मेरे घर चलना।"

रशीद के मन में बड़ा आश्चर्य हुआ। फिर भी जब छुट्टी हुई, तो वह डाक्टर साहब के साथ उनके घर गया। घर पहुँच कर डाक्टर साहब ने रशीद से कहा—"तुम अपनी टोपी उतार कर मुझे दे दो।"

रशीद ने टोपी उतार कर डाक्टर साहब को दे दी। टोपी बहुत ही गन्दी थी। डाक्टर साहब रशीद की टोपी लेकर गुसलखाने में चले गए, साबुन लगाकर उसकी टोपी को धोने

लगे। रशीद आश्चर्य-चकित खड़ा-खड़ा डाक्टर साहब की ओर देखता रहा। कुछ ही देर में रशीद को उसकी धुली हुई साफ टोपी मिल गई।

रशीद के ऊपर इस बात का इतना प्रभाव पड़ा कि वह भविष्य में सदा अपनी टोपी और कपड़े स्वच्छ रखने लगा।

एक दूसरे दिन की बात है, डाक्टर साहब जब कक्षा में पहुँचे तो अधिक अप्रसन्न दिखाई पड़ रहे थे। उन्होंने कक्षा में पहुँचते ही अपनी जेब में हाथ डाला, छोटे-छोटे कागज के कई टुकड़े बाहर निकाले। उन्होंने उन टुकड़ों को हाथ में लेकर विद्यार्थियों से कहा—"यह सब कूड़ा कक्षा में प्रवेश करते हुए मुझे रास्ते में मिला है। मुझे इससे अत्यधिक दुःख हुआ है। यह स्थान ज्ञान का मन्दिर है। इसे स्वच्छ रखना प्रत्येक विद्यार्थी का कर्तव्य है।"

एक दिन डाक्टर साहब की दृष्टि बच्चों के जूतों पर पड़ी। जूते बहुत ही गन्दे थे। डाक्टर साहब ने विद्यार्थियों से कहा—"तुम सब अपने-अपने जूतों पर पालिश करके आया करो।" पर सब लड़के क्यों ध्यान देने लगे। आखिर एक दिन डाक्टर साहब स्वयं ब्रुश और पालिश लेकर स्कूल के फाटक पर जा बैठे। उन्होंने जिस लड़के के जूते को गंदा देखा, उतरवा लिया, स्वयं अपने हाथों से उन पर पालिश की।

डाक्टर साहब के इस अद्भुत आचरण का विद्यार्थियों के ऊपर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे उसी दिन से अपने जूतों को साफ रखने लगे।

एक दिन उनकी दृष्टि कक्षा की खिड़कियों के शीशों पर [illegible]। शीशे बहुत ही गन्दे थे। उन्होंने उस कक्षा के लड़कों से

हा—"तुम सब को खिड़कियाँ-खिड़कियों के शीशे साफ रखने
ाहिएँ।" पर लड़कों ने डाक्टर साहब की बात पर ध्यान नहीं
या। दूसरे दिन जब डाक्टर साहब कक्षा में गए तो फिर
ड़कियाँ-खिड़कियों के शीशे गन्दे थे। डाक्टर साहब ने तुरन्त
थ में डण्डा लिया और सारे शीशे तोड़ दिये। उन्होंने लड़कों
कहा—"यदि तुम लोग खिड़कियों के शीशों को साफ नहीं
सकते तो तुम्हें शीशों की क्या आवश्यकता है।"

एक दिन ऊँची कक्षा के एक अध्यापक से डाक्टर साहब ने
ा कि वे छोटे-छोटे बच्चों को पढ़ाएँ। पर उन्होंने छोटे-छोटे
चों को पढ़ाने में अपमान का अनुभव किया। कहा—"मैंने
ी डिग्री प्राप्त की है। मेरी नियुक्ति ऊँची कक्षाओं के
ार्थियों को पढ़ाने के लिए हुई है। डाक्टर साहब को इससे
दुःख हुआ। वे स्वयं उसी समय छोटे-छोटे बच्चों की कक्षा
ाकर उन्हें पढ़ाने लगे।

इस प्रकार डाक्टर साहब ने अपने ऊँचे आदर्शों से 'जामिया
लिया' में एक नए जीवन का वातावरण पैदा कर दिया।
ोंने हर एक प्रकार से 'जामिया मिलिया' को एक आदर्श संस्था
ाँचे में ढाल दिया। पहले उसमें मुसलमानों के ही लड़के
थे, पर डाक्टर साहब ने 'जामिया मिलिया' का द्वार हर
जाति और धर्म के विद्यार्थी के लिए खोल दिया। डाक्टर
ब के प्रयत्नों से 'जामिया मिलिया' का नाम देश के कोने-
में फैल गया। बड़े-बड़े नेता तक अपने लड़कों को पढ़ने के
'जामिया मिलिया' में भेजने लगे। किसी समय महात्मा
जी के लड़के देवदास भी 'जामिया मिलिया' में पढ़ा
थे।

पहले 'जामिया मिलिया' की कक्षाएँ किराये के एक मकान में लगा करती थीं। पर डाक्टर साहब के प्रयत्नों से दिल्ली से आठ मील दूर ओखला में 'जामिया मिलिया' का भव्य भवन भी बनकर तैयार हो गया। डाक्टर साहब ने उस भव्य भवन के निर्माण में जिस प्रकार अपने खून को पानी बनाया, यह उन्हीं के अनुरूप था।

डाक्टर साहब अपने 'त्याग' और ऊँचे आदर्शों के कारण बहुत पहले ही गाँधी जी के सम्पर्क में आ चुके थे। गाँधी जी उनकी सादगी—उनकी सफाई के कारण उनसे अधिक प्रसन्न रहते थे। वे जब भी दिल्ली आते थे, 'जामिया मिलिया' में अवश्य जाया करते थे। डाक्टर साहब के शिक्षा सम्बन्धी सिद्धान्त गाँधी जी को बहुत प्रिय थे। यही कारण है कि १९३७ ई० में जब गांधी जी ने 'बुनियादी शिक्षा' के लिए एक कमेटी बनाई तो उन्होंने उसका अध्यक्ष डाक्टर साहब को ही नियुक्त किया। 'हिन्दुस्तानी तालीमी संघ' के अध्यक्ष का भार भी गाँधी जी ने डाक्टर साहब को ही सुपुर्द किया था।

१९४७ के १५ अगस्त को देश स्वतंत्र हुआ। स्वतंत्रता मिलने पर केन्द्र और प्रान्तों में राष्ट्रीय सरकारें स्थापित हुईं। डाक्टर साहब को केन्द्र की सरकार में शिक्षा-मंत्री का कार्य-भार संभालने के लिए आमंत्रित किया गया। पर डाक्टर साहब तैयार न हुए। उन्होंने कहा—"मेरा क्षेत्र शिक्षा है। मैं शिक्षा के क्षेत्र में ही रहकर देश की सेवा करूँगा।"

१९४७-४८ का समय देश के लिये बड़े संकट का समय था। यद्यपि देश का बँटवारा हो चुका था, पर मुस्लिम लीग

बोया 'ज़हर' अब भी अपना प्रभाव दिखा रहा था। अलीगढ़ विश्वविद्यालय तो अब भी लीगियों का केन्द्र बना हुआ था। प्रायः रोज ही उपद्रव हुआ करते थे। आखिर, १९४८ ई० में इस ज़हर का सामना करने के लिए डाक्टर साहब को अलीगढ विश्वविद्यालय में उप-कुलपति के पद पर प्रतिष्ठित किया गया। डाक्टर साहब ने अपने 'त्याग' और ऊँचे आदर्शों से विश्वविद्यालय में फैले हुए विष को शान्त किया। उनके प्रयत्नों से विश्वविद्यालय में फिर प्रेम और शान्ति का नया वातावरण पैदा हुआ। विश्वविद्यालय में फिर सुचारू रूप से काम होने लगा।

डाक्टर साहब लगभग आठ वर्षों तक अलीगढ़ विश्वविद्यालय के उप-कुलपति पद पर रहे। इस बीच में उनकी इच्छा न होने पर भी १९५२ ई० में उन्हें राज्य सभा का सदस्य नामज़द किया गया। राज्य सभा का सदस्य नामज़द होने पर उन्हें राजनीतिक क्षेत्र में उतरना ही पड़ा। वे शिक्षा के साथ ही साथ अनमने मन से राजनीति में भी काम करने लगे। १९५७ ई० में उन्हें बिहार प्रदेश के राज्यपाल के पद पर नियुक्त किया गया। डाक्टर साहब पाँच वर्षों तक इस पद पर रहे। उनके कार्यकाल में बिहार प्रदेश में महत्वपूर्ण सुधार हुए। किसानों और गरीबों के कल्याण से सम्बन्ध रखने वाली कई योजनाएँ भी सामने आईं।

१९६२ ई० में स्वर्गीय डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद जी ने राष्ट्रपति पद से अवकाश ग्रहण किया। और उसके अवकाश ग्रहण करने पर डाक्टर राधाकृष्णन् राष्ट्रपति चुने गए। इसी समय डाक्टर साहब को उपराष्ट्रपति के पद पर प्रतिष्ठित किया गया। डाक्टर साहब इस पद पर ... वर्षों तक रहे। उन्होंने [illegible] देशों की यात्राएँ

कीं। उनकी यात्राओं से मुस्लिम देशों और भारत में मैत्री-भाव का संबंध स्थापित हुआ। डाक्टर साहब जहाँ भी गए, उन्होंने भारत की एक राष्ट्रीयता का एक अनोखा आदर्श उपस्थित किया। इसके लिए स्वयं स्वर्गीय नेहरू जी ने भी डाक्टर साहब की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। १९६३ ई० में डाक्टर साहब की सेवाओं पर उन्हें 'भारत-रत्न' की उपाधि दी गई। भारत में यह उपाधि सबसे 'ऊँची' समझी जाती है। अब तक स्वर्गीय राजेन्द्र प्रसाद, जवाहर लाल नेहरु, राधाकृष्णन्, लाल बहादुर शास्त्री और श्रीमती इन्दिरा गाँधी सदृश चोटी के नेताओं को यह उपाधि प्राप्त हो सकी है।

१९६७ ई० के मई महीने में डाक्टर साहब स्वतंत्र भारत के राष्ट्रपति पद पर प्रतिष्ठित हुए। वे दो वर्ष तक इस पद पर रहे। पर इस दो वर्ष के अल्प-काल में ही उन्होंने देश की जो सेवा की, उससे देशवासियों के हृदय में उनके लिए एक घर-सा बन गया। भारत के रहने वाले उनके ऊँचे 'त्याग' और आदर्शों को सदा याद रखेंगे।

१९६९ ई० की तीन मई को प्रातःकाल डाक्टर साहब को दिल का दौरा पड़ा, वे किसी को सेवा का अवसर न देकर, सब पर अपनी सेवाओं का भार छोड़कर सदा के लिए विदा हो गए। पर उनकी यादें और उनके वियोग में आँसू सदा बने रहेंगे।

डाक्टर साहब के विचार बड़े ऊँचे थे। एक बार उन्होंने राष्ट्रीय एकता पर बल देते हुए कहा था—"हमें कभी भी नहीं भूलना चाहिए कि हम एक देश के वासी हैं—हमारे देश का

विष्य हमारे संगठन और काम पर निर्भर करता है। अगर रत की नाव डूब गई तो कौन जिन्दा बचेगा ? अगर देश न्दा बचेगा तो कौन मरेगा ?"

एक बार उन्होंने धर्म की व्याख्या इस प्रकार की थी—"वास्तक धर्म लोगों को एक-दूसरे के पास लाता है। धर्म कभी लोगों बांटता नहीं। जो आदमी सही अर्थों में धार्मिक है, उसका य बदल जाता है। वह शान्ति, प्रेम और सद्भावना का र करता है।"

तृतीय प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी

स्वतंत्र भारत के तीसरे प्रधानमंत्री पद पर प्रतिष्ठित होने का महान् गौरव श्रीमती इन्दिरा गांधी को प्राप्त है। इन्दिरा जी युग-पुरुष स्वर्गीय जवाहरलाल नेहरू की पुत्री हैं। द्वितीय प्रधान-मंत्री स्वर्गीय लालबहादुर शास्त्री जी के निधन के पश्चात् वे प्रधान मंत्री पद पर प्रतिष्ठित हुईं। पिछले दोनों ही प्रधान-मंत्रियों से इन्दिरा जी का प्रधान मंत्री काल अधिक टिकाऊ और सुस्थिर है। इन्दिरा जी प्रधान मंत्री के रूप में भारत की पताका अपने हाथ में लेकर बड़ी शान के साथ विजय के राग

पर बढ़ती चली जा रही हैं। उनकी सफलता को—उनकी सिद्धियों को देखकर बड़े-बड़े नेता और मनीषी तक आश्चर्य में पड़ गये हैं।

इन्दिरा जी जब प्रधान मंत्री के पद पर प्रतिष्ठित हुईं, तब से लेकर आज तक उनके जीवन-सागर में अनेक भँवर उठे, पर उनकी सूझ-बूझ, उनकी साहसिकता और उनकी तेजोमयता के कारण वे सभी भँवर शान्त हो गए, सभी दब गए। इसके लिए इन्दिरा जी की जितनी भी प्रशंसा की जाये कम है। राजनीति के क्षेत्र में इन्दिरा जी को जितनी और जैसी सिद्धि प्राप्त हुई तथा हो रही है, संसार के बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों को भी वह आज तक नहीं प्राप्त हो सकी है। इसके लिए इन्दिरा जी के जीवन को जितना भी अधिक गरिमामय और जितना भी अधिक सौभाग्यमय कहा जाय, कम है।

इन्दिरा जी का जन्म स्थान प्रयाग है। उनका जन्म एक ऐसे वंश में हुआ, जिसके 'त्याग' और 'देश-प्रेम' की कहानी भारत की स्वतंत्रता के इतिहास में युग-युगों तक बड़े गौरव के साथ लिखी जायेगी। उनके बाबा पंडित मोतीलाल नेहरू और पिता युग-पुरुष स्वर्गीय जवाहरलाल नेहरू दोनों ही भारत के प्राण थे—दोनों ने ही देश की स्वतंत्रता के लिए अपना सर्वस्व निछावर कर दिया था। श्री नेहरू जी ने स्वतंत्रता के पश्चात् प्रधान मंत्री के रूप में जिस तरह भारत के गौरव और उसकी प्रतिष्ठा के केतु को उड़ाया, उसे भारत के लोग क्या कभी भूल सकेंगे।

इन्दिरा जी का जन्म प्रयाग के सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक भवन 'आनन्द-भवन' में हुआ। पर जब उनका जन्म हुआ तो उनकी

दादी के हृदय का उत्साह मन्द पड़ गया। उनके मुख से अपने आप ही निकल पड़ा—"अरे ! होना तो लड़का चाहिए था।" इस पर स्वर्गीय पंडित मोतीलाल नेहरू ने उन्हें डांटते हुए कहा था—"खबरदार ऐसी बात मुँह से निकाली तो ! कभी ऐसा खयाल भी मन में नहीं लाना चाहिए। क्या हमने कभी अपने लड़के और लड़कियों में कोई फर्क किया है ? क्या तुम सभी से एक-जैसी मुहब्बत नहीं करती ? देखना तो सही, जवाहर की यह बेटी हजारों बेटों से सवाई होगी।"

स्वर्गीय पंडित मोतीलाल जी ने उस दिन इन्दिरा जी के सम्बन्ध में जो भविष्यवाणी की थी, वह आज उनके जीवन में बिलकुल सच्ची उतर रही है।

इन्दिरा जी का बचपन बड़े सुखों और वैभव की गोद में व्यतीत हुआ। पर बचपन में ही उन्हें झकोरे और उथल-पुथल भी देखने को मिली। वह १९२०-२५ का समय था। गाँधी जी ने असहयोग की लड़ाई का बिगुल बजा दिया था। पंडित मोतीलाल और जवाहर लाल नेहरू भी असहयोग की लड़ाई में सम्मिलित हो चुके थे। उनके परिवार के अन्य लोग भी उन्हीं के मार्ग पर चल रहे थे। चारों ओर विदेशी कपड़ों की होलियाँ जल रही थीं। चारों ओर धर पकड़ हो रही थी, लाठियाँ, डंडे, और गोलियाँ चल रही थीं। आनन्द भवन के हाते में भी विदेशी कपड़ों की होली जली। आनन्द भवन में भी पुलिस का आना-जाना और धर-पकड़ होती ही रहती थी।

इस प्रकार इन्दिरा जी को बचपन में ही एक ऐसे वातावरण में रहना पड़ा जिसे क्रान्ति, देश-प्रेम, साहस, त्याग और बलिदान

का वातावरण कहना चाहिए। यद्यपि उस समय इन्दिरा जी की अवस्था बहुत कम थी, पर उनके बाल-हृदय पर उन घटनाओं का प्रभाव तो पड़ना ही था, जो उनके आस-पास चारों ओर घट रही थीं। इन्दिरा जी उन घटनाओं से प्रभावित होकर कभी-कभी अपनी गुड़ियों को सादे कपड़े पहनाकर एक मेज़ के ऊपर एक क़तार में खड़ी कर देती, उनके हाथ में कागज के कांग्रेसी झण्डे भी पकड़ा देतीं। एक दूसरी क़तार में गुड्डों को पुलिस बनाकर खड़ा करती। गुड्डों के हाथों में डण्डे और बन्दूक भी पकड़ा देती। वे अपने 'दादा' और पिता की तरह गुड़ियों के सामने, जो किसानों के वेश में होती थी, भाषण करती—"आगे बढ़ो, देश की स्वतंत्रता के लिए लड़ो, अंग्रेजी सरकार से मत डरो, आदि-आदि।"

इन्दिरा जी प्रतिदिन आनन्द भवन की खिड़कियों से कांग्रेसी सत्याग्राहियों के जुलूस को देखा करती थी। वे आनन्द भवन के भीतर उसी प्रकार के जुलूस अपनी गुड़ियों के भी निकाला करती थीं।

इन्दिरा जी को विदेशी कपड़ों की होली जलाने में बड़ा आनन्द आता था। वे घर के भीतर से अपने दादा, अपने पिता, अपनी दादी, माँ और फूफियों के—विदेशी कपड़े बड़े उत्साह से उठा लातीं, उन्हें देखते-ही-देखते आग के हवाले कर दिया करती थीं। इन्दिरा जी ज्यों-ज्यों बड़ी होने लगीं, उनके देश-प्रेम और देश-भक्ति की भावना का विकास भी होने लगा। कुछ और बड़ी होने पर, उन्हें पुलिस के अत्याचारों के ऊपर क्रोध भी आने लगा। एक बार पुलिस जुरमाने में आनन्द-भवन के बहुत से

दादी के हृदय का उत्साह मन्द पड़ गया। उनके मुख से अपने आप ही निकल पड़ा—"अरे! होना तो लड़का चाहिए था।" इस पर स्वर्गीय पंडित मोतीलाल नेहरू ने उन्हें डाँटते हुए कहा था—"खबरदार ऐसी बात मुँह से निकाली तो! कभी ऐसा ख्याल भी मन में नहीं लाना चाहिए। क्या हमने कभी अपने लड़के और लड़कियों में कोई फर्क किया है? क्या तुम सभी से एक-जैसी मुहब्बत नहीं करती? देखना तो सही, जवाहर की यह बेटी हजारों बेटों से सवाई होगी।"

स्वर्गीय पंडित मोतीलाल जी ने उस दिन इन्दिरा जी के सम्बन्ध में जो भविष्यवाणी की थी, वह आज उनके जीवन में बिलकुल सच्ची उतर रही है।

इन्दिरा जी का बचपन बड़े सुखों और वैभव की गोद में व्यतीत हुआ। पर बचपन में ही उन्हें झकोरे और उथल-पुथल भी देखने को मिली। वह १९२०-२५ का समय था। गाँधी जी ने असहयोग की लड़ाई का बिगुल बजा दिया था। पंडित मोतीलाल और जवाहर लाल नेहरू भी असहयोग की लड़ाई में सम्मिलित हो चुके थे। उनके परिवार के अन्य लोग भी

१९२० ई० के बाद १९३० ई० में फिर भारत की स्वतन्त्रता की लड़ाई का बिगुल बजा। देश के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक फिर 'भारत माता' की 'जय-जयकार' का नारा गूँज उठा। बड़े-बड़े नेता गिरफ्तार करके जेल में डाल दिए गए। पं० मोतीलाल नेहरू, और जवाहर लाल नेहरू भी पकड़ लिए गए। उनके कुटुम्ब की दूसरी स्त्रियाँ भी, जिनमें कमला नेहरू, पं० विजयलक्ष्मी, और कृष्णा नेहरू आदि थीं, बड़े साहस के साथ कांग्रेस के कार्य करने लगीं, अपने को गिरफ्तारियों के लिए प्रस्तुत करने लगीं।

इन्दिरा जी के हृदय में भी देश-भक्ति की तरंगें लहरा उठीं। वे भी अपने को गिरफ्तार कराने के लिए तैयार हो उठीं। पर उनकी अवस्था उन दिनों केवल बारह-तेरह वर्ष की थी, इसलिए उन्हें कांग्रेस के स्वयं-सेवकों में भरती न किया जा सका। फिर क्या इन्दिरा जी चुप होकर बैठ गईं ? नहीं, उन्होंने आस-पास के बच्चों को इकट्ठा करके एक बाल-सेना बनाई। उनकी उस सेना का नाम 'वानर सेना' था। इन्दिरा जी ने अपनी 'वानर सेना' को इन शब्दों में सम्बोधित किया था—"जो कुछ मैं बता रही हूँ, उसे करने में खतरा तो अवश्य है। अगर पुलिस ने हमें गिरफ्तार किया तो बड़ों की तरह जेल शायद ही भेजे, कोई और ही सज़ा दे; हो सकता है कि बेंत मारकर ही छोड़ दे।" लोगों का कहना है कि, इन्दिरा जी की 'वानर सेना' के सदस्य बड़े काम के सिद्ध हुए थे। पुलिस की आँखों में धूलि झोंककर गुप्त कागज पत्रों और सन्देशों को यथास्थान पहुँचाने में उन्होंने कमाल का काम किया था।

१९३० ई० से लेकर १९४५-४६ तक नेहरू परिवार के

सामान, जिनमें कीमती क़ालीन और कुर्सियां थीं, ज़ब्त करके, उठाकर ले जा रहीं थीं, तो इन्दिरा जी अपने को रोक न सकीं। वे पैर पटकते हुए चिल्ला उठीं—"तुम इन चीज़ों को नहीं ले जा सकते। ये हमारी हैं।" वे क्रोध में घूंसा तानकर दरोगा पर झपट पड़ीं, पर उन्हें बड़ी मुश्किल से पकड़कर वहाँ से हटाया जा सका।

इन्दिरा जी अब कुछ पढ़ने-लिखने लगी थीं। वे परियों की कहानियाँ और साहसिक कथाएँ बड़े प्रेम से पढ़ा करती थीं। 'जोन आफ आर्क' की कहानी उन्हें बहुत अच्छी लगती थी। वे कभी-कभी अकेले में 'जोन आफ आर्क' की नकल भी किया करती थीं।

धीरे-धीरे समय आगे बढ़ने लगा। जवाहर लाल जी बार-बार जेल गए, जेल से छूट कर आये। देश में बार-बार बहुत से उथल-पुथल हुए। बड़े-बड़े राजनीतिक नेता आनन्द-भवन में आते-जाते रहे। महात्मा गांधी का आना-जाना भी समय-समय पर आनन्द-भवन में होता रहा। इन्दिरा जी उन्हीं परिस्थितियों में—ऐसे वातावरण में उम्र की सीढ़ियों पर चढ़तीं गईं। उन्हें बचपन में ही बड़े-बड़े नेताओं का प्यार मिला, उन्होंने बड़े-बड़े नेताओं के पास बैठकर उनकी बातें बहुत ही निकट से सुनीं, और उन्होंने ऐसी घटनाएँ और कहानियाँ भी सुनीं, जो बड़ी साहसिक और हृदय को कँपा देने वाली थीं। फलतः उनके हृदय में 'देश-प्रेम' और 'देश-भक्ति' का दीपक जल उठा। वे बारह-तेरह वर्ष की अवस्था में ही ऐसे कार्य करने लगीं, जिनमें 'साह-सिकता' के साथ ही साथ देश-प्रेम और देश पर न्यौछावर होने की भावना थी।

१६२० ई० के बाद १६३० ई० में फिर भारत की स्व-तन्त्रता की लड़ाई का बिगुल बजा। देश के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक फिर 'भारत माता' की 'जय-जयकार' का नारा गूँज उठा। बड़े-बड़े नेता गिरफ्तार करके जेल में डाल दिए गए। पं० मोतीलाल नेहरू, और जवाहर लाल नेहरू भी पकड़ लिए गए। उनके कुटुम्ब की दूसरी स्त्रियाँ भी, जिनमें कमला नेहरू, पं० विजयलक्ष्मी, और कृष्णा नेहरू आदि थीं, बड़े साहस के साथ कांग्रेस के कार्य करने लगीं, अपने को गिरफ्तारियों के लिए प्रस्तुत करने लगीं।

इन्दिरा जी के हृदय में भी देश-भक्ति की तरंगें लहरा उठीं। वे भी अपने को गिरफ्तार कराने के लिए तैयार हो उठीं। पर उनकी अवस्था उन दिनों केवल बारह-तेरह वर्ष की थी, इसलिए उन्हें कांग्रेस के स्वयं-सेवकों में भरती न किया जा सका। फिर क्या इन्दिरा जी चुप होकर बैठ गईं ? नहीं, उन्होंने आस-पास के बच्चों को इकट्ठा करके एक बाल-सेना बनाई। उनकी उस सेना का नाम 'वानर सेना' था। इन्दिरा जी ने अपनी 'वानर सेना' को इन शब्दों में सम्बोधित किया था—"जो कुछ मैं बता रही हूँ, उसे करने में खतरा तो अवश्य है। अगर पुलिस ने हमें गिरफ्तार किया तो बड़ों की तरह जेल शायद ही भेजे, कोई और ही सजा दे; हो सकता है कि बेंत मारकर ही छोड़ दे।" लोगों का कहना है कि, इन्दिरा जी की 'वानर सेना' के सदस्य बड़े काम के सिद्ध हुए थे। पुलिस की आँखों में धूलि झोंककर गुप्त कागज पत्रों और सन्देशों को यथास्थान पहुँचाने में उन्होंने कमाल का काम किया था।

१६३० ई० से लेकर १६४५-४६ तक नेहरू परिवार के

लिए बड़े संघर्षों का समय था। इन पन्द्रह-सोलह वर्षों में नेहरू परिवार में बहुत-सी घटनाएं घटीं। श्री जवाहरलाल जी को बार-बार जेल जाना पड़ता था। वे मुश्किल से कभी सुख की नींद सो पाते थे। जब जेल के बाहर रहते थे, तो भी दिन-रात भाग-दौड़ होती ही रहती थी। एक ओर देश की स्वतन्त्रता के लिए महान् संघर्ष, और दूसरी ओर पारिवारिक झमेले! एक-एक करके सब के स्नेह का साया उनके ऊपर से उठ गया। माता-पिता स्वर्गवासी हो गए, कमला जी भी उनका साथ छोड़कर स्वर्ग प्रयाण कर गईं, और बहनें भी विवाहित होकर अपने-अपने घर-संसार में चली गईं! रह गए जवाहर लाल अकेले—बिलकुल अकेले। उनके जीवन का आधार केवल इन्दिरा जी ही थीं। वे अपने हृदय के समस्त मानवी प्यार और स्नेह को उन्हीं पर टिकाकर अपने महान् कर्त्तव्यों को निभाने में जुट गए।

नेहरू परिवार की इस अस्त-व्यस्तता का स्पष्ट रूप से इन्दिरा जी की शिक्षा पर प्रभाव पड़ा। प्रारम्भ में वे कुछ दिनों तक प्रयाग के एक अंग्रेजी स्कूल में पढ़ीं। कुछ दिनों तक उनकी पढ़ाई-लिखाई घर पर भी हुई। इसके बाद उन्हें गाँधी जी की राय से पूना के 'प्युपिल्स ओन स्कूल' में भरती किया गया। १९३४ ई० में इन्दिरा जी ने मैट्रिकुलेशन की परीक्षा पास की। मैट्रीकुलेशन की परीक्षा पास करने के बाद वे 'शान्ति निकेतन' में भरती हुईं। पर एक वर्ष बाद ही उन्हें शान्ति निकेतन छोड़ देना पड़ा। कमला जी की बीमारी के कारण उन्हें उनके साथ विदेश जाना पड़ा। कमला जी स्वर्ग प्रयाण के बाद उन्होंने १९३८ में ब्रिस्टल के 'बैडमिण्टन' स्कूल में भरती होकर फिर पढ़ना आरम्भ किया।

इन्दिरा जी जिन दिनों क्रिस्टल के वैडमिण्टन स्कूल में शिक्षा प्राप्त कर रही थीं, उन्हीं दिनों वे स्वर्गीय फिरोज गांधी के साहचर्य में आईं। शनैः शनैः परस्पर प्रेम बढ़ता गया—इन्दिरा और फिरोज गांधी ने परस्पर जीवन-सूत्र में बँधने का निश्चय कर लिया। इन्दिरा जी और फिरोज गांधी जब भारत लौटकर आये, तो इन्दिरा जी ने अपने मन का भाव स्वर्गीय नेहरू जी के ऊपर प्रकट किया। पहले तो नेहरू जी ने इन्दिरा और फिरोज की शादी का विरोध किया, पर जब उन्होंने इन्दिरा और फिरोज के दृढ पारस्परिक झुकाव और आकर्षण को देखा, तो उन्होंने सहर्ष १९४२ ई० के मार्च के महीने में इन्दिरा और फिरोज का विवाह कर दिया। इन्दिरा और फिरोज का विवाह बहुत ही सादे ढंग से हुआ था। विवाह की सारी विधियाँ कुल दस मिनट में ही समाप्त हो गई थीं।

इन्दिरा जी के विवाह को अभी थोड़े ही दिन हुए थे कि देश मे 'भारत छोड़ो' आन्दोलन का नारा गूँज उठा। 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव बम्बई में पास हुआ था। जिन दिनों यह प्रस्ताव पास हो रहा था, इन्दिरा जी भी फिरोज के साथ बम्बई में मौजूद थीं। प्रस्ताव पास होते ही सभी बड़े-बड़े नेता गिरफ्तार कर लिए गए, पंडित जवाहरलाल जी को भी बम्बई में ही पकड़ लिया गया। इन्दिरा जी फिरोज के साथ प्रयाग लौट गईं। फिरोज के नाम भी वारंट था। वे गुप्त रूप से आन्दोलन को चलाने के लिए लखनऊ चले गए, पर इन्दिरा जी प्रयाग में रह गईं।

इन्दिरा जी भी अपने को गिरफ्तार कराने के लिए आकुल हो उठीं। उन दिनों किसी भवन या कालेज की बिल्डिंग पर

तिरंगा-राष्ट्रीय झण्डा फहराना अपराध माना जाता था। एक दिन एक कालेज के विद्यार्थियों ने अपने कालेज पर झण्डा फह-राने के लिए इन्दिरा जी को आमन्त्रित किया। विद्यार्थियों के आमंत्रण पर इन्दिरा जी वहाँ जा पहुँची। उनके पहुँचने के पहले ही वहाँ पुलिस भी जा पहुँची थी। पुलिस विद्यार्थियों पर डण्डे चला रही थी। जो लड़का हाथ में झण्डा लिए हुए था वह लहू-लुहान था, जमीन पर गिरा हुआ था। पुलिस उसके हाथ से झंडा छीनने का प्रयत्न कर रही थी, फिर भी वह झण्डा नहीं छोड़ रहा था। इन्दिरा जी की रगों में बिजली की लहर-सी दौड़ पड़ी। वे दौड़कर लड़के के पास जा पहुँचीं। उन्होंने लड़के के हाथ से झण्डा अपने हाथ में ले लिया। इसी समय और लड़के भी इन्दिरा जी के पास जा पहुँचे—सब घायल लड़के को घेर कर खड़े हो गए।

अब तो पुलिस इन्दिरा जी और उनके साथ खड़े हुए लड़कों पर टूट पड़ी। पुलिस के डण्डे इन्दिरा जी पर भी पड़ने लगे। उनके हाथों पर कई डण्डे पड़े, पर फिर भी उन्होंने झण्डा न छोड़ा। उन्होंने बड़े साहस के साथ झण्डा फहरा करके ही संतोष लिया।

पर उस दिन वे गिरफ्तार न की गईं। दूसरे दिन वे पुनः भाषण देने के लिए एक सभा में गईं। भाषण कर ही रही थी कि गिरफ्तार कर ली गईं, नैनी जेल में पहुँचाई गईं। नैनी जेल में उनकी बुआ भी नज़रबन्द थी। कुछ दिनों के बाद जेल में इन्दिरा जी का स्वास्थ्य खराब हो गया, फलतः १९४३ ई० की तेरहवीं मई को वे जेल से छोड़ दी गईं।

जेल से बाहर आने पर इन्दिरा जी का स्वास्थ्य जब ठीक हुआ तो वे पुनः कांग्रेस के कार्य में जुट गईं। वे दिन बड़े संकट के दिन थे। चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था। बीच-बीच में कहीं-कहीं रेल की पटरियाँ उखड़ जाती थीं और फल-स्वरूप कहीं-कहीं गोलियाँ चल जाती थीं। इन्दिरा जी बहुत बच-बचाकर काम कर रही थीं। इन्हीं दिनों १९४४ ई० की २० अगस्त को राजीव का जन्म हुआ। इन्दिरा जी उन दिनों अपनी बुआ कृष्णा हठीसिंह के साथ बम्बई में रहती थीं।

राजीव के जन्म के दो मास बाद इन्दिरा जी फिरोज गांधी के साथ लखनऊ चली गईं। लखनऊ में फिरोज गांधी का मकान था। वे उनके साथ लखनऊ में उसी मकान में रहने लगीं, किन्तु १९४५ ई० में जब जवाहरलाल नेहरू जेल से छूटकर आये तो इन्दिरा जी पुनः प्रयाग चली गईं। फिरोज गांधी भी उनके साथ-साथ प्रयाग में आनन्द भवन में रहा करते थे।

१९४६ ई० में फिरोज गांधी "नेशनल हैरल्ड" के प्रबन्ध-सम्पादक नियुक्त हुए। फलतः वे अपने परिवार के साथ पुनः लखनऊ चले गए, एक छोटे-से मकान में रहने लगे। फिरोज गांधी तो 'नेशनल हैरल्ड' के कामों में लगे रहते थे और इन्दिरा जी कांग्रेस के कार्यों में भाग लिया करती थीं। पर इन्दिरा जी अधिक दिनों तक लखनऊ में न रह सकीं। उन्हीं दिनों दिल्ली में अस्थायी राष्ट्रीय सरकार की स्थापना हुई। स्वर्गीय नेहरू उस सरकार के प्रधान मंत्री चुने गए। फलतः वे नई दिल्ली जाकर रहने लगे। इन्दिरा जी भी उनकी देख-रेख के लिए नई दिल्ली चली गईं, यार्क रोड के १७ नम्बर के एक

छोटे-से मकान में रहने लगीं। इसी मकान में इन्दिरा जी के दूसरे पुत्र, जिनका नाम संजय है, जन्म हुआ।

ये दिन रक्तपात के दिन थे। चारों ओर हिन्दू-मुस्लिम दंगे हो रहे थे। देश के सभी बड़े-बड़े नेता दंगों की आग बुझाने में व्यस्त रहा करते थे। जवाहरलाल नेहरू दिन-रात काम में लगे रहते थे, इन्दिरा जी बड़ी निष्ठा के साथ उनकी देख-रेख तो करती ही थीं, उनके कार्यों में योग भी दिया करती थीं। आखिर १९४७ ई० के पन्द्रह अगस्त को भारत स्वतंत्र हुआ। स्वतंत्रता के साथ ही साथ भारत को दो टुकड़ों में बाँट दिया गया। इस बंटवारे के कारण पाकिस्तान में हिन्दुओं और सिखों का क़त्ल होने लगा। हजारों लाखों की संख्या में लोग भाग-भाग कर भारत आने लगे। इन्दिरा जी ने पाकिस्तान से भाग-भागकर आने वाले शरणार्थियों की सेवा-सहायता में दिन-रात एक कर दिये।

पाकिस्तान में होने वाले दंगों का प्रभाव भारत पर भी पड़ा। भारत में भी कई नगरों में दंगों की आग भड़क उठी। दिल्ली में भी उपद्रव आरम्भ हुए। एक दिन एक गरीब मुसलमान के घर को भीड़ ने चारों ओर से घेर लिया। मुसलमान का परिवार घर के भीतर मौजूद था। सब के सब भय में काँप रहे थे। इन्दिरा को जब खबर मिली तो वे जीप पर बैठकर शीघ्र ही वहाँ पहुँची। इन्दिरा जी को देखते ही लोग उनको [illegible] देने लगे, बुरी-बुरी गालियाँ बकने लगे। इन्दिरा जी उनकी धमकियों और गालियों की परवाह किये बिना रास्ता बनाती हुई घर के भीतर गईं और प्राणों पर खेलकर उस

परिवार को निकालकर अपनी जीप पर बिठाकर चली
इन्दिरा जी के साहस और उनकी दिलेरी को देखकर
उनका रास्ता रोकने का साहस न हुआ ।

-धीरे दंगे शान्त हो गए । उन्हीं दिनों गाँधी जी की हत्या
धी जी की हत्या के बाद देश में शाँति छा गई । लोग
के सुखों का उपभोग करने लगे । केन्द्र और प्रान्तों मे
कारों का गठन होने लगा । १९४९ ई० में संविधान की
ई । अभी तक पं० जवाहर लाल जी 'यार्क रोड' के
ही रहते थे । पर अब उनके लिए यह मकान बहुत
ा था । १९५० ई० में वे तीन मूर्ति भवन में चले
दरा जी भी उनके साथ-साथ तीनमूर्ति-भवन में जाकर
।

२ ई० में देश में आम चुनाव हुआ । इन्दिरा जी ने
से उस चुनाव में श्री नेहरू का प्रचार किया ।
ी भी चुनाव में लोक-सभा की सदस्यता के लिए
थे । चुनाव का जब फल निकला तो प्रान्तों और
ग्रेस भारी बहुमत के साथ विजयी हुई । फलतः प्रांतों
राष्ट्रीय स्थायी सरकारों की स्थापना हुई । पंडित
नेहरू फिर प्रधान मंत्री के पद पर प्रतिष्ठित हुए ।
ी भी लोक सभा के लिए सदस्य चुने गए ।

गाँधी पहले तीनमूर्ति भवन में ही रहते थे । पर
सभा के सदस्य चुने गए तो अलग मकान लेकर
इन्दिरा जी कभी तीनमूर्ति भवन में और कभी
के घर रहा करती थीं । धीरे-धीरे दिन बीतने

लगे। पाँच वर्ष के पश्चात् १९५७ ई० में फिर दूसरा आम चुनाव हुआ। इस चुनाव के बाद भी केन्द्र और प्रान्तों में कांग्रेस की सरकारें बनीं। इसी प्रकार १९६२ और ६७ के चुनाव में भी कांग्रेस की भारी बहुमत से जीत हुई। केन्द्र और कई प्रान्तों में भी कांग्रेस की सरकारें स्थापित हुईं।

१९५७ के आम चुनाव में फिरोज गाँधी पुनः लोक सभा के सदस्य चुने गए। इस चुनाव के बाद भी वे अलग ही रहा करते थे। वे दिन-रात काम में व्यस्त रहा करते थे। दिन-रात काम में व्यस्त रहने के कारण उनका स्वास्थ्य खराब हो गया, उन्हें दिल का दौरा पड़ने लगा। १९६० ई० की दूसरी सितम्बर को, इसी रोग के कारण वे स्वर्ग-प्रयाण कर गए। फिरोज गाँधी के स्वर्गवास से इन्दिरा जी का हृदय दुख से मथ उठा। पर कोई कर ही क्या सकता था ? किसी प्रकार इस बहुत बड़े दुख के भार को उठाकर, उन्होंने फिर जीवन के मार्ग पर आगे चलना प्रारम्भ किया।

इन्दिरा जी अब मुख्य रूप से पंडित जवाहरलाल जी के साथ तीन मूर्ति भवन में ही रहने लगीं। पंडित जवाहरलाल जी १९५२ से लेकर १९६४ ई० के मई महीने तक भारत के प्रधान मन्त्री पद पर रहे। इन बारह वर्षों में इन्दिरा जी बराबर उनके साथ रहीं। उन्होंने कई बार श्री नेहरू जी के साथ विदेशों की यात्राएं कीं, संसार के बड़े-बड़े नेताओं से वे मिलीं। उन्होंने कई बार सारे भारत का दौरा किया, बड़ी-बड़ी राजनीतिक गुत्थियों को सुलझाने में भी उन्होंने नेहरू जी का हाथ बँटाया। वे अनेक राजदूतों से मिलीं, उनकी बातें उन्होंने सुनीं। कई चुनाव भी उन्होंने लड़े, इन चुनावों के सिलसिले में उन्होंने गाँवों और

रों का दौरा किया। १९५९ ई० में वे स्वयं कांग्रेस अध्यक्ष के
न पर बैठीं। इस रूप में उन्होंने सारे भारत का फिर दौरा
। इस प्रकार नेहरू जी के प्रधान मन्त्री-काल में इन्दिरा
को बहुत बड़ा राजनीतिक अनुभव और ज्ञान प्राप्त करने
सुअवसर प्राप्त हुआ। कहना ही होगा कि उन अनुभवों
ज्ञान ने इन्दिरा जी की राजनीतिक बुद्धि को अधिक परि-
और सुदृढ़ बना दिया। इन्दिरा जी को अपने राजनीतिक
न में आज जो सिद्धियाँ प्राप्त हो रही हैं, वह उन्ही अनु-
और उसी ज्ञान की अपूर्व देन है।

१९६४ ई० की २७ वीं मई को श्री नेहरू जी का स्वर्गव
या। श्री नेहरू के स्वर्ग प्रयाण के पश्चात् श्री लालबहा
ी प्रधान मन्त्री बने। शास्त्री जी के मन्त्रि मण्डल में इन्दि
ी सूचना तथा प्रसारण विभाग सौंपा गया। इन्दिरा
ीन मूर्ति भवन को छोड़ कर, १ सफदर जंग रोड
र रहने लगी। आज भी इन्दिरा जी, जब वे प्रधान मन्
र प्रतिष्ठित है, १ सफदर जंग रोड में ही रहती है।

सूचना तथा प्रसारण मन्त्री के रूप में इन्दिरा जी
ों की यात्राएँ की। वे रूस भी गईं। रूस के बड़े-बड़े नेता
राजनीतिज्ञों से उनकी भेंट हुई। वे जहाँ भी गईं, उन्हों
की गरिमा और उसके गौरव को बढ़ाया। वे जब विदेश
ट कर आईं, तो १९६५ ई० में भारत और पाक का यु
 हो गया। इन्दिरा जी ने युद्ध के मोर्चे का दौरा किया
ों पर लड़ने वाले सिपाहियों से मिलीं, उनकी देश-भक्ति
ष्ठा की उन्होंने दिल खोलकर सराहना की।

यद्यपि युद्ध में भारत को विजय प्राप्त हुई, फिर भी रूस की प्रेरणा से भारत और पाक में सन्धि-वार्ता चली। शास्त्री जी उसी वार्ता के सिलसिले में १९६६ ई० के जनवरी में ताशकंद गए। रूस की प्रेरणा और सहयोग से भारत और पाक में सन्धि तो हो गई, पर ताशकन्द में ही हृदय-गति बन्द हो जाने के कारण शास्त्री जी का निधन हो गया।

शास्त्री जी के निधन के पश्चात् कांग्रेस-दल के समक्ष प्रधान मन्त्री के चुनाव का प्रश्न उपस्थित हुआ। क्योंकि केन्द्र में कांग्रेस-दल का ही बहुमत था। कई उम्मीदवार सामने आए, पर अन्त में निर्णय इन्दिरा जी के पक्ष में रहा। इन्दिरा जी सर्व-सम्मति से नेता निर्वाचित हुईं। १९६६ ई० की बाईसवीं जनवरी को प्रधान मन्त्री-पद पर प्रतिष्ठित हुईं। इन्दिरा जी जब प्रधान मन्त्री चुनी गईं तो लोगों की यह धारणा थी कि ये अधिक दिनों तक इस पद पर न रह सकेंगी, पर ज्यों-ज्यों दिन बीतने लगे, लोगों को उनकी बुद्धि और कार्य-क्षमता का पता लगने लगा। लोग उनकी बुद्धि की कुशलता और कार्य-क्षमता की सराहना तो करने ही लगे, उस पर आश्चर्य भी प्रकट करने लगे।

एक वर्ष के बाद ही १९६७ ई० में आम चुनाव हुआ। इन्दिरा जी ने सारे देश का तूफानी दौरा किया। इन्दिरा जी के प्रयत्नों से फिर कांग्रेस दल की विजय हुई, केन्द्र में कांग्रेस की सरकार स्थापित हुई। प्रधान मन्त्री के निर्वाचन का प्रश्न उपस्थित होने पर विवाद उपस्थित हो गया। क्योंकि मुरार जी भाई भी प्रधान मन्त्री पद के लिए उम्मीदवार थे। पर परस्पर सम-

झौता हो गया। इन्दिरा जी प्रधान मन्त्री और मुरार जी भाई उपप्रधान मन्त्री चुने गए।

यद्यपि इन्दिरा गाँधी और मुरार जी भाई के समर्थकों में समझौता हो गया, पर भीतर ही भीतर मनोमालिन्य बना रहा। लोग इन्दिरा जी को अपदस्थ करने के लिए प्रयत्न करते रहे। इन्दिरा जी भी इस बात से अवगत थीं। अतः वे बहुत ही सजगता और सतर्कता से काम ले रही थीं। १९६९ ई० में राष्ट्रपति ज़ाकिर हुसैन का, हृदय-गति बन्द हो जाने के कारण निधन हो गया। उनके निधन के पश्चात् कांग्रेस-दल के सामने राष्ट्रपति के चुनाव का प्रश्न उपस्थित हुआ। इन्दिरा जी श्री गिरि के पक्ष में थीं, किन्तु उनके विरोधी नीलम संजीवा रेड्डी को कांग्रेस का उम्मीदवार बनाते थे। राष्ट्रपति के चुनाव को लेकर कांग्रेस-दल में तीव्र मतभेद पैदा हो गया। इन्दिरा जी ने श्री गिरी को अपना उम्मीदवार बनाया, और पुराने नेताओं ने जिन्हें सिंडीकेट कहा जाता था, नीलम संजीव रेड्डी को कांग्रेस का उम्मीदवार घोषित किया।

इन्हीं दिनों मुरार जी भाई ने उप-प्रधान मन्त्री पद से त्याग पत्र दे दिया। इन्हीं दिनों इन्दिरा जी ने चौदह बैंकों का राष्ट्रीयकरण करके, बड़े-बड़े अर्थशास्त्रियों और पूँजीपतियों को भी आश्चर्य में डाल दिया।

राष्ट्रपति के चुनाव में इन्दिरा जी को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई। माननीय श्री वराह वेंकटगिरि राष्ट्रपति चुने जाकर राष्ट्रपति-पद पर प्रतिष्ठित हुए। इस विजय से इन्दिरा

जी के समर्थकों में हर्ष और उल्लास का सागर-सा लहरा उठा था।

१९७० ई० में कांग्रेस के आपसी मतभेदों ने इतना तूल पकड़ लिया कि कांग्रेस दो भागों में बँट गई। इन्दिरा जी अपने समर्थकों को लेकर अलग हो गईं। इस प्रकार इन्दिरा जी और उनके समर्थकों से जो दल संगठित हुआ, वह नई कांग्रेस के नाम से पुकारा जाने लगा। दूसरे दल को लोग 'संगठन कांग्रेस' या 'पुरानी कांग्रेस' के नाम से सम्बोधित करने लगे।

नई कांग्रेस ने अस्तित्व में आकर, इन्दिरा जी के नेतृत्व में थोड़े ही दिनों में सारे देश में अपनी धाक जमा ली। १९७० ई० को २९वीं दिसम्बर को इंदिरा जी ने संसद को भंग करके मध्यावधि चुनाव की घोषणा की। चुनाव जब आरम्भ हुआ, तो इन्दिरा जी ने सारे देश का तूफानी दौरा किया। वे जहाँ भी गईं, उन्होंने भारत के गरीबों और किसानों को 'गरीबी मिटाओ' का संदेश दिया। उनके सन्देश, और उनके भाषणों का जनता के ऊपर अद्‌भुत प्रभाव पड़ा, चुनाव में उनके समर्थकों को—नई कांग्रेस को अभूतपूर्व विजय प्राप्त हुई।

केन्द्र और कई प्रान्तों में नई कांग्रेस की सरकारें बनीं। और आजकल तो केवल तमिलनाद को छोड़कर सारे भारत में नई कांग्रेस की ही सरकारें स्थापित हैं। केन्द्र में इन्दिरा जी पुनः प्रधान मन्त्री पद पर प्रतिष्ठित हैं।

पर अभी कुछ ही दिन बीत पाए थे कि बांगला देश में स्वतन्त्रता की आँधी चल पड़ी। पाकिस्तानी सैनिक बंगालियों पर भीषण अत्याचार करने लगे। बंगाली जनता ने पाक के

विरुद्ध मुक्ति-संग्राम छेड़ दिया। पाक सैनिकों के अत्याचारों से भयभीत होकर लाखों बंगाली स्त्री, पुरुष और बच्चे भारत में भाग आये। इन्दिरा जी ने मानवता के नाते उन्हें शरण दी, उनकी हर एक प्रकार से सेवा-सहायता की।

पर पाक इससे क्रोधांध हो उठा। उसने भारत के विरुद्ध जंग छेड़ दिया। पूर्वी और पश्चिमी दोनों मोर्चों पर युद्ध की आग भड़क उठी। युद्ध में भारत की अभूतपूर्व विजय प्राप्त हुई। बांगला देश स्वतन्त्र हो गया। बांगला देश में पाक के लाखों सैनिक और बड़े-बड़े जनरल कैद कर लिए गए। बांगला देश में और भारत के कोने-कोने में इन्दिरा जी की जय-जयकार होने लगी। क्योंकि यह भारत की एक ऐसी अनौखी विजय थी, जो भारत के पिछले इतिहास के पृष्ठों में भी बेजोड़ थी।

इस महान् विजय के उपलक्ष्य में १९७२ ई० की २६वीं जनवरी को इन्दिरा जी देश के सर्वोच्च अलंकरण 'भारत रत्न' से विभूपित की गई।

युद्ध में पराजित होने के कारण पाक में चारों अस्तव्यस्तता फैल गई। पाक के राष्ट्रपति मि० भुट्टो ने विवश होकर, भारत की ओर मित्रता का हाथ बढ़ाया। इंदिरा जी ने उसे स्वीकार कर लिया, फलस्वरूप भारत और पाक में, शिमला में एक समझौता सम्पन्न हुआ। इस समझौते में दोनों देशों ने प्रतिज्ञा की कि वे एक-दूसरे की क्षेत्रीय अखंडता का आदर करेंगे, एक-दूसरे पर आक्रमण न करेंगे।

इंदिरा जी प्रधान मंत्री के रूप में संसार के अनेक देशों

की यात्राएँ कर चुकी हैं। उन्होंने संसार के सभी बड़े-बड़े महान
पुरुषों और नेताओं से मुलाकातें की है। वे जहाँ-जहाँ गयी हैं, उन्हों
अपने व्यक्तित्व की छाप छोड़ी है। उनके अनोखे और प्रभावपू
व्यक्तित्व के कारण संसार के बड़े-बड़े नेता भी उन्हें विश्व की
सर्वश्रेष्ठ 'महिला-रत्न' मानते हैं।

चतुर्थ राष्ट्रपति मानीय श्री वी० वी० गिरि

स्वतन्त्र भारत के चतुर्थ राष्ट्रपति पद पर प्रतिष्ठित होने
का जिन्हें महान् गौरव प्राप्त हुआ है, उनका नाम श्री वराह-
गिरि वेंकट गिरि हैं। आजकल श्री गिरि ही हमारे देश के
राष्ट्रपति हैं। श्री 'गिरि' सशक्त चरित्र, गम्भीर तथा
ओजस्वी वाणी के महान् पुरुष हैं। उनका प्रभावपूर्ण व्यक्तित्व
। उनके व्यक्तित्व में राजनीति, धर्म और सांस्कृतिक समन्वय
। वे कुशल और अनुभवी राजनीतिज्ञ होते हुए भी 'आत्मा

श्री गिरि का जन्म १८६४ ई० की १० अगस्त को बरह
पुर, उड़ीसा में हुआ। श्री गिरि के पिता का नाम जोगैया प
और माता का नाम वेंकट सुब्बम्मा था। श्री गिरि अपने माता-
की दूसरी सन्तान हैं। उनके माता-पिता की कुल बारह स
हुई, जिनमें सात पुत्र और पाँच पुत्रियाँ हैं। श्री 'गिर
बड़े भाई की तीन वर्ष की अवस्था में ही मृत्यु हो गई थी।
अब श्री गिरि ही अपने भाई-बहनों में सबसे बड़े हैं।

श्री गिरि के पिता जोगैया पन्तुल बहुत बड़े वकील
उन्होंने एक वकील के रूप में धन और यश—दोनों
किये थे। उनकी विद्वता और उनकी अनुभवशीलता पर
होकर सरकार ने उन्हें अपना 'प्लीडर' नियुक्त किया था
गिरि की माता वेंकट सुब्बम्मा भी बड़ी विचारशीला, दृढ़
और धर्मनिष्ठ महिला थीं। यद्यपि उनकी एक-एक कर
सन्तानें असमय में ही संसार से विदा हो गईं, पर उनके
कभी भी निराशा न पैदा हुई। वे सदा बड़े उत्साह और स
साथ अपनी शेष सन्तानों को सुयोग्य, विद्वान और उद्योगी ब
लिए तप और त्याग करती रहीं। उन्हीं के 'तप' और
का यह परिणाम है कि आज श्री गिरि उन्नति के स
शिखर पर पहुँच सके हैं।

श्री गिरि को बचपन में ही ऊँचे आदर्शों और वि
छाया में रहने का सुअवसर प्राप्त हुआ। श्री गिरि
पिता ऊँचे विचारों के, सुशिक्षित व्यक्ति तो थे ही, उ
और मामा भी ऊँचे आदर्शों के व्यक्ति थे। उनके ए
जिनका नाम हनुमन्त राव था, गाँधी जी के मतानुयायी
थे। उनका सारा समय गरीबों और दीन-दुखियों की से

व्यतीत होता था। इस प्रकार बचपन में ही श्री गिरि को ऐसी बातें देखने-सुनने को मिली थीं, जिनमें 'जन हिताय' और 'जन सुखाय' की भावना थी। अवश्य ही, श्री गिरि के बाल-हृदय पर इन सभी बातों का प्रभाव पड़ा।

श्री गिरि की प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही सम्पन्न हुई। किन्तु जब वे बड़े हुए तो स्कूल मे पढ़ने लगे। उन्होंने स्थानीय स्कूलों में पढ़ करके हाई स्कूल की परीक्षा पास की। श्री गिरि के शिक्षकों में उनके एक शिक्षक का नाम श्रीरामलिंगम् था। श्रीरामलिंगम् बड़े देश-प्रेमी थे। उन्होंने अपने विद्यार्थियों में भी देश-भक्ति और सदाचरण का भाव पैदा करने का व्रत किया था। उनके व्यक्तित्व का गिरि के हृदय पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। फलतः श्री गिरि जिन दिनों हाई स्कूल में पढ़ रहे थे, उन्हीं दिनों वे देश-सेवा और समाज-सेवा के कार्य करने लगे थे। श्री गिरि ने श्री रामलिंगम् से ही प्रोत्साहित होकर उन्हीं दिनों 'युवक पुस्तकालय' और 'युवक संघ' की स्थापना की थी।

हाई स्कूल की परीक्षा पास करने के बाद श्री गिरि आयरलैंड चले गए, डबलिन में पढ़ने लगे। डबलिन में पढ़ते हुए श्री गिरि आयरलैंड के बड़े-बड़े क्रांतिकारी नेताओं के सम्पर्क में आये। सुप्रसिद्ध क्रांतिकारी नेता डी वेलेरा का सान्निध्य भी उन्हें प्राप्त हुआ। उन क्रांतिकारी नेताओं के विचारों का श्री गिरि के हृदय पर अधिक प्रभाव पड़ा। फलतः वे गरीबों और मजदूरों के अधिक पक्षपाती बन गए। उन्होंने आयरिश मजदूरों की सहायता करने के उद्देश्य से, डबलिन में पढ़ने वाले भारतीय [illegible]ों का एक संघ बनाया। यद्यपि इस संघ के द्वारा कुछ काम [illegible]आ, पर विद्यार्थी श्री गिरि उसके कारण अंग्रेजी सरकार की [illegible]ओं के कांटे बन गए।

उन्हीं दिनों श्री गिरि ने एक पुस्तक लिखी। उस पुस्तक का नाम था, 'दक्षिण अफ्रीका के अत्याचार'। उसमें दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों पर गोरों द्वारा किये जाने वाले अत्याचारों का चित्र खींचा गया है। वह पुस्तक आयरलैंड के 'राष्ट्रीय प्रेस' में लाखों की संख्या में छपी थी। उसकी प्रतियाँ बहुत बड़ी संख्या में इंगलैंड में, आयरलैंड और भारत में बाँटी गई थीं। इस पुस्तक के कारण श्री गिरि अंग्रेज़ी सरकार के और भी अधिक कोप-भाजन बन गए। अंग्रेज़ी सरकार विद्यार्थी गिरि को गिरफ्तार करने के लिए षड्यन्त्र करने लगी। पर श्री गिरि किसी प्रकार से गिरफ्तारी से बच गए और अपनी पढ़ाई को जारी रख सके।

श्री गिरि ने आयरलैंड में पढ़कर कानून की ऊँची डिगरी प्राप्त की। वहाँ से भारत लौटने पर वे बरहानपुर में अपने पिता के साथ वकालत करने लगे। थोड़े ही दिनों में उनकी वकालत चमक उठी, उनकी गणना श्रेष्ठ वकीलों में होने लगी।

पर श्री गिरी का भविष्य धीरे-धीरे उन्हें किसी दूसरी ही दिशा की ओर खींचता जा रहा था। वह दिशा थी, राजनीति की। श्री गिरी डबलिन में पढते हुए राजनीतिक नेताओं के प्रभाव में आ चुके थे। उसी समय उनके हृदय में भारतीय स्वतन्त्रता के लिए आग धधक उठी थी। पर उस समय उनके मन में अहिंसा के प्रति निष्ठा नहीं थी। १६१४ ई० में गिरि की लन्दन में महात्मा गाँधी से भेंट हुई थी। श्री गिरि उन दिनों डबलिन में पढ़ रहे थे। पर बीच-बीच में अपनी छुट्टियाँ बिताने के लिए लन्दन भी जाया करते थे। एक बार लन्दन में वे गाँधी जी के सम्पर्क में पहुँचे। गाँधी जी ने उन्हें अहिंसा के मार्ग

पर चल कर भारत की स्वतन्त्रता के लिए कार्य करने की प्रेरणा दी, पर उन दिनों श्री गिरि आयरलैण्ड के क्रान्तिकारी नेताओं के विचारों से प्रभावित थे। अतः गांधी जी से बात होने पर उन्होंने गांधी जी के मार्ग की आलोचना की।

किन्तु गिरी जब भारत में आकर वकालत करने लगे, तो उनके ऊपर गांधी जी के विचारों का प्रभाव पड़ा, और वे पूर्ण रूप से गांधी जी के मतानुयायी बन गए। १९२०-२१ में जब गांधी जी ने असहयोग की लड़ाई का बिगुल बजाया तो श्री गिरी अपना सर्वस्व छोड़कर उस लड़ाई में सम्मिलित हो गए। इसके बहुत पहले ही श्री गिरि का सम्बन्ध कांग्रेस से जुट गया था। वे १९१६ ई० में ही कांग्रेस के सदस्य बन चुके थे। लखनऊ कांग्रेस में भाग लेकर उन्होंने पूर्ण स्वतन्त्रता के पक्ष में भाषण दिया था।

पर मुख्य रूप से श्री गिरी १९२०-२१ ई० में ही राजनीति के क्षेत्र में उतरे। वे १९२१ से लेकर १९४६ ई० तक बराबर देश की स्वतन्त्रता के लिए कार्य करते रहे। जब-जब देश की स्वतन्त्रता के लिए लड़ाई लड़ी गई, उन्होंने मुख्य रूप से उसमें भाग लिया। वे कई बार जेल गए। जेल में उन्होंने भाँति-भाँति के कष्ट सहन किए, अत्याचारों के विरुद्ध भूख-हड़तालें कीं। लाठियों, गोलियों और अत्याचारों के बीच भी वे सदा अडिग बने रहे। उनके चरित्र की इस दृढ़ता ने ही प्रत्येक क्षेत्र में उन्हें सदा विजयी बनाया है।

श्री गिरी ने कांग्रेस द्वारा चलाये गए आन्दोलनों में भाग तो लिया ही, उन्होंने श्रमिकों का संगठन भी किया। भारत में ५८ आन्दोलन को प्राणवान बनाने में श्री गिरि का महत्वपूर्ण

योग है। १६२७ ई० में बंगाल-नागपुर रेलवे में श्री गिरि
प्रेरणा से ही बहुत बड़ी प्रभावपूर्ण हड़ताल हुई थी। इस हड़
में लगभग साठ हजार कर्मचारियों ने भाग लिया था।
हड़तालियों की जुबान पर एक ही नाम था—"श्री गिरी क
श्री गिरि तब तक अड़े रहे, जब तक अधिकारियों ने मजदूरे
बात मानकर उनकी माँगें नहीं स्वीकार कर लीं।

१६४७ ई० की पन्द्रह अगस्त को जब देश स्वतन्त्र
तो श्री गिरी ने प्रशासनिक क्षेत्र में प्रवेश किया। १६४७ ई
पूर्व १६३७ ई० में श्री गिरी ने मद्रास विधान सभा का
लड़ा था। वे विजयी हुए थे, और मद्रास मन्त्रिमण्डल में लि
थे। १६४६ ई० में भी उन्होंने विधान सभा के चुनाव में
प्राप्त की थी, और श्रम-मन्त्री पद पर प्रतिष्ठित हुए
१६४७ ई० में उन्हें लंका का उच्चायुक्त बनाकर भेजा
चार वर्षों तक इस पद पर रह कर उन्होंने देश की मह
सेवाएँ कीं।

१६५२ ई० के चुनाव में श्री गिरि ने लोक-सभा का
लड़ा। वे विजयी होकर संसद में पहुँचे। श्री जवाहरलाल
ने उन्हें अपने मंत्रिमण्डल में लिया, वे श्रम मंत्री के प
प्रतिष्ठित हुए। १६५७ ई० के जून महीने में उन्हें उत्तर
का, और १६६५ के अप्रेल में मैसूर का राज्यपाल नियुक्त
गया। अपने इन पदों का दायित्व श्री गिरि ने बड़ी सुचा
साथ निवाहा, फलस्वरूप उनका नाम देश के कोने-कोने
गया।

१६६६ ई० के मई के महीने में श्री गिरी उप-राष्ट्र

पर चल कर भारत की स्वतन्त्रता के लिए कार्य करने की प्रेरणा दी, पर उन दिनों श्री गिरि आयरलैण्ड के क्रान्तिकारी नेताओं के विचारों से प्रभावित थे। अतः गांधी जी से बात होने पर उन्होंने गाँधी जी के मार्ग की आलोचना की।

किन्तु गिरी जब भारत में आकर वकालत करने लगे, तो उनके ऊपर गाँधी जी के विचारों का प्रभाव पड़ा, और वे पूर्ण रूप से गाँधी जी के मतानुयायी बन गए। १९२०-२१ में जब गाँधी जी ने असहयोग की लड़ाई का बिगुल बजाया तो श्री गिरी अपना सर्वस्व छोड़कर उस लड़ाई में सम्मिलित हो गए। इसके बहुत पहले ही श्री गिरि का सम्बन्ध कांग्रेस के जुट गया था। वे १९१६ ई० में ही कांग्रेस के सदस्य बन चुके थे। लखनऊ कांग्रेस में भाग लेकर उन्होंने पूर्ण स्वतन्त्रता के पक्ष में भाषण दिया था।

पर मुख्य रूप से श्री गिरी १९२०-२१ ई० में ही राजनीति के क्षेत्र में उतरे। वे १९२१ से लेकर १९४६ ई० तक बराबर देश की स्वतन्त्रता के लिए कार्य करते रहे। जब-जब देश की स्वतन्त्रता के लिए लड़ाई लड़ी गई, उन्होंने मुख्य रूप से उसमें भाग लिया। वे कई बार जेल गए। जेल में उन्होंने भाँति-भाँति के कष्ट सहन किए, अत्याचारों के विरुद्ध भूख-हड़तालें कीं। लाठियों, गोलियों और अत्याचारों के बीच भी वे सदा बने रहे। उनके चरित्र की इस दृढ़ता ने ही उन्हें सदा विजयी बनाया है।

श्री गिरी ने कांग्रेस द्वारा चलाये गए तो लिया ही, उन्होने श्रमिकों का संगठन मजदूर आन्दोलन को प्राणवान बनाने

योग है। १९२७ ई० में बंगाल-नागपुर रेलवे में श्री गिरि की प्रेरणा से ही बहुत बड़ी प्रभावपूर्ण हड़ताल हुई थी। इस हड़ताल में लगभग साठ हजार कर्मचारियों ने भाग लिया था। सभी हड़तालियों की जुबान पर एक ही नाम था—"श्री गिरी का"। श्री गिरि तब तक अड़े रहे, जब तक अधिकारियों ने मजदूरों की बात मानकर उनकी माँगें नहीं स्वीकार कर लीं।

१९४७ ई० की पन्द्रह अगस्त को जब देश स्वतन्त्र हुआ, तो श्री गिरी ने प्रशासनिक क्षेत्र में प्रवेश किया। १९४७ ई० के पूर्व १९३७ ई० में श्री गिरी ने मद्रास विधान सभा का चुनाव लड़ा था। वे विजयी हुए थे, और मद्रास मन्त्रिमण्डल में लिये गए थे। १९४६ ई० में भी उन्होंने विधान सभा के चुनाव में विजय प्राप्त की थी, और श्रम-मन्त्री पद पर प्रतिष्ठित हुए थे। १९४७ ई० में उन्हें लंका का उच्चायुक्त बनाकर भेजा गया। चार वर्षों तक इस पद पर रह कर उन्होंने देश की महत्वपूर्ण सेवाएँ कीं।

१९५२ ई० के चुनाव में श्री गिरि ने लोक-सभा का चुनाव लड़ा। वे विजयी होकर संसद में पहुँचे। श्री जवाहरलाल नेहरू ने उन्हें अपने मंत्रिमण्डल में लिया, वे श्रम मंत्री के पद पर प्रतिष्ठित हुए। १९५७ ई० के जून महीने में उन्हें उत्तर प्रदेश का, और १९६५ के अप्रेल में मैसूर का राज्यपाल नियुक्त किया गया। अपने इन पदों का दायित्व श्री गिरि ने बड़ी सुचारुता के साथ निबाहा, फलस्वरूप उनका नाम देश के कोने-कोने में फैल गया।

१९६६ ई० के मई के महीने में श्री गिरी उप-राष्ट्रपति के

पद पर प्रतिष्ठित हुए। इस पद पर वे तीन वर्ष तक रहे
१९६९ ई० में जब राष्ट्रपति डा० जाकिर हुसैन का निधन हुआ
तो श्री गिरि उनके स्थान पर, अगस्त के महीने में राष्ट्रप
चुने गए। आजकल श्री गिरी ही हमारे राष्ट्रपति हैं।

श्री गिरी ने राष्ट्रपति के रूप में अब तक संसार के क
देशों की यात्राएँ की हैं। वे जहाँ भी गए हैं, उनका स्वागत हु
है, उन्होंने भारत के गौरव-केतु को ऊँचा किया है। आशा
श्री गिरि के द्वारा इसी प्रकार भारत-केतु गौरवान्वित होत
रहेगा।